आलोचना व निबन्ध

साहित्य-समीक्षा

रामरतन भटनागर एम० ए०, डी० फ़िल०

किताब महल : इलाहाबाद

विज्ञप्ति

प्रत्येक साहित्यरसिक और साहित्य के विद्यार्थी को साहित्य की उन भिन्न-भिन्न कोटियों के संबंध में थोड़ी-बहुत जिज्ञासा रहती ही है जिन्हें साहित्य कह कर पुकारा जाता है। साहित्य जहाँ ऐसी कला है जिसमें साहित्यकार की प्रतिभा का उन्मेष बड़े महत्व की चीज़ है, वहाँ वह एक हद तक विज्ञान भी है। अब तक न जाने कितना साहित्य लिखा गया है। आलोचकों ने साहित्य के भिन्न-भिन्न अंगों से संबंधित महत्वपूर्ण कृतियों की चीड़फाड़ की है और उनकी रचना के संबन्ध में अनेक सिद्धान्त स्थिर किये हैं। इन्हीं सिद्धान्तों की नींव पर आज का आलोचक बड़े-बड़े महल खड़े करता है। इसीलिए यह नितांत आवश्यक है कि साहित्य-रसिक और साहित्य का पाठक उन कृतियों के निर्माण-सम्बन्धी सिद्धान्तों के विषय में अंधकार में न रहे जिनसे वह आनन्द लेता है या जिन्हें अपने अध्ययन का विषय बनाता है।

'साहित्य-समीक्षा' की उपादेयता यही है। साहित्य के भिन्न-भिन्न अंगों के सम्बन्ध में पिछले कुछ वर्षों में जो मैंने पढ़ा है और जो मैंने सोचा है वह सब के लाभ के लिए काग़ज़ पर दे दिया है। अनेक विषयों पर स्वतंत्र रूप से विचार किया गया है। यह मौलिकता पुस्तक की उपादेयता बढ़ाएगी, ऐसा मेरा विश्वास है। अधिकारी व्यक्तियों की भारी-भारी पोथियों से होड़ लेना मेरी चाह नहीं रही है। न उतना अवकाश है, न उतनी निश्चिंतता, न उतनी स्पर्धा। पाठक इस पुस्तक को ध्यान से पढ़े और साहित्य के सम्बन्ध में दो तरह कुछ सोच सके तो मेरा परिश्रम सफल है।

साहित्य के सम्बन्ध में कोई भी शब्द अंतिम नहीं हो सकता। जीवन की तरह साहित्य भी सतत प्रगतिशील है। फिर मेरा शब्द भी अंतिम शब्द नहीं हो सकता। समीक्षक साहित्य के देवमंदिर की रूपरेखाएँ ही गढ़ सकता है। साहित्यदेवता की मूर्ति तो प्रत्येक पाठक स्वयं बनायेगा। उसके और देवता के बीच में समीक्षक का स्थान ही कहाँ है ! अस्तु।

प्रयाग,
७ जुलाई, १९४८

रामरतन भटनागर

विषय-सूची

१

कला

प्राचीनों ने साहित्य, संगीत और कला को तीन अलग-अलग चेष्टाएँ माना था, भर्तृहरि के एक प्रसिद्ध श्लोक से यह बात स्पष्ट है, परंतु आधुनिक युग में 'कला' शब्द का प्रयोग अत्यंत व्यापक रूप में होता है और उसमें 'साहित्य' और 'संगीत' का भी समावेश हो जाता है। प्राचीन काल के ग्रंथों में ६४ कलाओं का उल्लेख मिलता है। इन ६४ कलाओं में सभी प्रकार की सुकुमार और बुद्धिमूलक क्रियाएँ आ जाती हैं। इन सभी क्रियाओं का साहित्य-मात्र से संबंध नहीं है। जीवन की सभी चेष्टाएँ ही इसमें व्याप्त हैं। वास्तव में कला की इस सूची में वेद शास्त्र, निरुक्त, सांख्ययोग जैसे सब विषय आ जाते हैं। अतः आधुनिक युग की कला-परिभाषा प्राचीन युग की कला-परिभाषा से एकांततः भिन्न है। जहाँ प्राचीन युग में कला 'कर्मसु कौशलम्' मानी गई है, वहाँ आधुनिक युग में केवल कुछ विशेष कर्मों को ही कला कहा गया है—स्थापत्य, मूर्ति-निर्माण, चित्रांकन, साहित्य, संगीत, नृत्य (नृत्त और मुद्रा) और अभिनय। आधुनिक आलोचकों की दृष्टि में ये सब कलाएँ भी एक ही श्रेणी की वस्तुएँ नहीं हैं, जिस कला में 'वस्तु' जितनी सूक्ष्म है, वह उतनी ही अधिक महान है। इस प्रकार कला की तालिका इस क्रम से होगी—

(१) साहित्य (२) संगीत (३) चित्रांकन (४) नृत्य (५) अभिनय (६) मूर्ति-निर्माण (७) स्थापत्य। जहाँ तक मनुष्यों के भावों, विचारों और अनुभूतियों के सुन्दर और प्रभावशाली ढंग पर प्रकाशन की बात है, साहित्य इन कलाओं में सर्वश्रेष्ठ है। मनुष्य के व्यक्तित्व और उसके विचारों का सबसे अधिक प्रकाशन इसी के द्वारा हो सकता है। अन्य कलाएँ उसे केवल आंशिक ढंग से ही प्रगट कर सकती हैं। परंतु चाहे हम प्राचीनों की कला-सूची से सहमत न हों, उनके कला-संबंधी आदर्शों से हमारा आज भी कोई विरोध नहीं हो सकता। प्राचीन कला-विवेचक ठीक ही कहता है—

विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला॥

अर्थात् जिसकी विश्रांति भोग में है वह कला बंधन है, पर जिसका इशारा परमतत्त्व की ओर है वही कला कला है। इस 'परमतत्त्व' में धर्मान्धता की कोई बात नहीं है। कला अपने उपादानों से ऊपर उठ कर नये सौन्दर्यजगत् की स्थापना करे, यह लक्ष्य है।

आधुनिक समय में "कला" शब्द का प्रयोग एक नितांत नूतन परिभाषा में होता है। पुरातन साहित्य में ६४ कलाओं का उल्लेख है। उनमें संगीत और नाट्य है, काव्य और साहित्य नहीं। वहाँ "कला" का अर्थ "कौशल" है। आधुनिक व्याख्या के अनुसार कला के अर्थ बड़े व्यापक हो गये हैं और उसमें साहित्य, काव्य, संगीत, स्थापत्य आदि सब आ जाते हैं। इन सब के लिए साथ किसी एक प्रकार का विधान निश्चित करना कठिन है। परंतु यह नहीं भी हो सके, तब भी एक मूल प्रश्न सामने आ जाता है—इन सबका प्रयोजन क्या है, कला का प्रयोजन क्या

है ! विद्वानों और समीक्षकों ने समय-समय पर कला के अनेक प्रयोजन बताये हैं, जैसे 'कला कला के लिए', 'जीवन कला के लिए', 'कला जीवन की वास्तविकता से पलायन के लिए', 'जीवन में आनंद ढूंढ़ने के लिए' 'सेवा के लिए', 'आत्म-तृप्ति के लिए', 'आनन्द के लिए' 'विनोद विश्राम के लिए', 'सृजन प्रवृत्ति की परितृप्ति के लिए', 'काव्यं व्यवहार विदे'। और भी कहे जा सकते हैं—"यशसे", "अर्थकृतः"। यदि हम इन प्रयोजनों का विश्लेषण करें तो दो वर्ग हो सकते हैं—'कला अपने लिए है' (आत्मने), फिर चाहे वह 'यशसे' हो, 'अर्थकृते' हो, 'आनंद' के लिए हो, 'स्वान्तः सुखाय' या आत्मतृप्ति के लिए या कला के लिए हो। या कला दूसरे के लिए है (परस्मै), चाहे वह व्यवहार सिखाने के लिए हो या सेवा के लिए हो या जीवन के लिए। इन दोनों वर्गों में से कौन ठीक है, उपादेय है, इस विषय पर तर्क-कुतर्क चलते रहते हैं। दोनों वर्गों के लोग हठ करते रहते हैं—हमारा ही मत ठीक है।

सच तो यह है कि कला ऊपर की सब चीज़ों के लिए है और इनके अतिरिक्त और भी बहुत चीज़ों के लिए है। जब हम अमूर्त भावों को मूर्त करते हैं तो हमें कला के दर्शन होते हैं। हमारे भाव निरर्थक नहीं हो सकते। अतः उनका स्वयम् हमसे या हमारे आस-पास के समाज या राष्ट्र से संबंध तो होगा ही। अनर्गल, निरर्थक विचारों का जिस प्रकार कोई मूल्य नहीं, उसी प्रकार सुन्दर परंतु अर्थहीन कलाकृति ही का क्या मूल्य होगा ? अतः यह स्पष्ट है कि कला हमारे अपने लिए होगी या किसी दूसरे के लिए, चाहे यह अन्य व्यक्ति हो, समाज हो या राष्ट्र हो। यदि हम अपने को भी तटस्थ रख कर देख सकें तो वह "जीवन के लिए होगी"—समष्टि के साथ व्यक्ति भी तो है।

वास्तव में कला के दोनों पहलू सत्य हैं—वे विरोधात्मक भी नहीं हैं। यदि कला सार्थक है तो वह दोनों वर्गों की हो सकती है। प्रत्येक रचना से सृजन-प्रवृत्ति की तो परितृप्ति होती ही है, आनन्द भी आता है, विश्राम भी मिलता है, चूँकि उसमें कलाकार का व्यक्तित्व ही प्रगट होता है इसलिए आत्मप्राप्ति तो होती ही है। यदि कलाकार अपनी रचना से आनन्द लेना चाहता है, जीवन से ऐसे तत्त्व छाँट निकालना चाहता है जो थोड़ी देर के लिए विषमता से उसे हटा लें तो वह बुरा क्या करता है। यदि वह संविधान के चातुर्य को प्रगट करना चाहता है तो हानि भी क्या है! यदि कलाकार हवा में नहीं रहता तो उसकी वस्तु जीवन के लिए ही होगी। उससे 'सेवा' भी होगी, चाहे वह सेवा इतनी ही हो कि पाठक की संवेदना विकसित हो या उसकी सौन्दर्यवृत्ति को उत्तेजना मिले।

यहाँ तक तो सब ठीक है परंतु बात कठिन तब हो जाती है जब एक आलोचक वर्ग कहता है—"कला ठोस सेवा करे; धर्मनीति, राजनीति के संबंध में किसी विशेष धारणा का प्रचार करे या जीवन के नरक को जनता के सामने उठा कर रख दे।" जो कला के शुद्ध रूप के उपासक हैं वे हठ करते हैं—"यह सब हम क्यों करें? हमें तो आनन्द से गरज़ है। हम कला के ऊपर कोई ज़िम्मेवारी नहीं मानते।" जहाँ पहला वर्ग कला से उसी प्रकार काम लेना चाहता है जिस प्रकार वह हड़तालों, अस्त्र-शस्त्रों या चीड़-फाड़ के औज़ारों से लेता है, वहाँ दूसरा वर्ग उससे प्रच्छन्न रूप से अपनी ऐन्द्रियता और विलासिता का पोषण करता है।

कला का उद्‌गम है आनन्द, अतः आनन्द उसका लक्ष्य है। ब्रह्म-चर्य-प्रचार या हड़ताल-आन्दोलन मूल रूप से कला के साथ नहीं जुड़े हैं, इस अर्थ में "कला कला के लिए है।" कला से मनुष्य को जो आनन्द

मिलता है, वही 'ब्रह्मानंद सहोदर' कला का ध्येय है। परंतु उस आनंद में और इंद्रियगत आनंद में महान् अंतर है। उसके नाम पर वासना को उद्दीप्त करने वाले नग्न चित्रण नहीं होने चाहिये। कला का आनंद विलास के आनंद से कहीं ऊँचा है। यदि कलाकार "तटस्थता" या "तन्यमता" का आनंद लेकर बैठना चाहता है तो भी हमें कुछ कहना नहीं है। परंतु यदि एकदम जीवन की सामग्री का उपयोग नहीं करता, हवा में महल बनाता है, तो वह एकदम निरर्थक प्रयास कर रहा है और हमें उससे न कोई लाभ है, न कोई हानि। अवश्य यह हानि हो सकती है कि वह दूसरों के जीवन को भी आलस्य, निष्कर्मण्यता और अर्थहीन कल्पना से भर देगा जो निःसन्देह राष्ट्र के लिए हानिकारक बात होगी। इतने स्वप्न-द्रष्टाओं का राष्ट्र क्या करेगा? यह भी हो सकता है कि वह जिस पलायनशीलता का पोषण करता है, वह औरों को भी नष्ट कर दे या जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण को विकृत कर दे। जिस तरह वह हारा है, वे भी लड़ाई हारी समझें। फिर समाज की अपनी स्थिति क्या रहेगी।

जीवन का दूसरा अर्थ है निरंतर अध्यवसाय और पराक्रम। यदि हम जीना (जीवन बनाए रखना) चाहते हैं तो वह कला दूषित है जो जीवन की लड़ाई को हारी हुई लड़ाई बताकर हमें हथियार डालने को कहती है। यदि हम अपने चारों ओर के जीवन से भाग कर एक काल्पनिक जगत् में रहना चाहते हैं तो अपने चारों ओर के जीवन के ऐसे पहलू क्यों न ढूँढ़ लें जिनमें हम आनंद ले सकें। जीवन में ऐसी क्षमता है कि उसका कोई न कोई पहलू प्रत्येक मनुष्य को आनंद दे सकता है। फिर हम मृगतृष्णा के पीछे क्यों पड़ें? जो कलाकार ऐसा

करेगा उसका लक्ष्य होगा—"Art as an escape into life" लक्ष्य ठीक होगा।

कलाकृति के मूल में सृजन-प्रवृत्ति है, ऐसा हम कह चुके हैं और इस प्रवृत्ति के कारण कलाकार को अपनी कृति में आनन्द भी मिलता है परंतु यह तो है ही। यह आनन्द, विनोद-विश्राम, आत्मतृप्ति या आत्म-साक्षात्कार (यदि कला में कलाकार अपनी आत्मा के दर्शन पाता है या उसे अध्यात्म बना लेता है) तो अच्छी ही बात है, इससे किसी को लड़ना-झगड़ना नहीं, परंतु यह तो किसी भी तरह अंतिम उद्देश्य नहीं हो सकते। मुख्य बात है विषय की। जीवन से विषय लिया जाये या नहीं, दोनों दशाओं में इनकी प्राप्ति तो होगी ही। मुख्य बात तो विषय की है।

कला और जीवन का संबंध क्या है, मुख्य प्रश्न यही है। यह संबंध ठीक तरह समझ लेने पर आनंद-वर्ग और उपयोगिता-वर्ग दोनों में मेल हो सकता है। कलाकार जीवन को स्वीकार कर सकता है, जीवन की निश्चित मान्यताओं से आनंद ले सकता है और जीवन की निर्णीत धारणाओं का विरोध कर सकता है। कुछ मान्यताएँ चिरन्तन सत्य हैं जैसे सदाचार, धर्म, अहिंसा, जीवन-संस्कार, शुद्ध संस्कारी रसभावना। यदि कलाकार जीवन की निर्णीत धारणाओं को मानता हुआ इन्हें ही प्रश्रय देता है, तो ठीक है। परंतु यदि वह इनका विरोध करता है, व्यभिचार, अधर्म, हिंसा, पापभावना और विकृत भावना (विलासिता) को प्रश्रय देता है, तो यह उचित नहीं। यह कला के प्रति व्यभिचार होगा। संयम, संस्कारिता, सहयोग—यही वे मूल भावनाएँ हैं जिनपर जीवन टिका है, इनके प्रति विरोध करना जीवन का अपघात करना है। जो कला ऐसा करेगी, वह स्वयम् आत्मघात करेगी।

परंतु कला सामयिक जीवन के प्रति कहाँ तक उत्तरदायी हो, यह कहना कठिन है। आनन्दवादी वर्ग बहुत आगे नहीं बढ़ता। उससे यह ले लो—वह चिरंतन नित्य भावनाओं के प्रति श्रद्धा करेगा, जीवन की सामग्री को शुद्ध रखेगा, परन्तु सामयिक समस्याओं में नहीं पड़ेगा। यदि दृष्टिकोण यही है तो भी हमें कुछ नहीं कहना है। परंतु यदि वह सामयिक समस्याओं को स्वीकार करके उनके सुलझाने में लगता है तो वह विशेष श्रेय का पात्र होना चाहिये क्योंकि उस व्यक्ति की अपेक्षा जो वर्तमान के प्रति उदासीन रहता है, वह व्यक्ति अधिक महत्वपूर्ण है जो वर्तमान की ज़िम्मेदारियों को सिर पर ओढ़ता है और उसे भविष्य की ओर प्रगतिशील बनाता है।

भारतीय कला और साहित्य

हमारी भारतीय कला अधिकतर समन्वयात्मक है। भारतीय मस्तिष्क समन्वय-प्रिय है और इसका फल हमारी सभ्यता, हमारे धर्म, दर्शन और विज्ञान में स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। हिंदू धर्म को लीजिये, उसका विश्लेषण कीजिये और आपको मालूम हो जायगा कि वह विभिन्नता की ओर नहीं जाता, एक विशेष धार्मिक संप्रदाय और मत को अन्य से विमुख नहीं करता, वरन् उसके अंतर्गत समस्त धार्मिक संप्रदाय और मत-मतांतर एक ही साथ प्रगति में नत हो जाते हैं। विभिन्नता में इस प्रकार की एकता भारतीय दर्शन में भी प्रतिफलित है। यही एकता हमारी संस्कृति की विशेषता है।

धर्म जिसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश की त्रिमूर्ति कहता है, हिंदू दर्शन उसे सत्, रज और तम् के बीज-तत्त्व मानता है और हिंदू कला उसी को सत्यं, शिवं और सुन्दरम् के रूप में ग्रहण करती है। यही सृष्टि के तीन

बीज-तत्त्व हैं। विभिन्नता नामों में है। हिंदू दार्शनिकों का मत है, इन तीन गुणों के स्थान-भेद और अंतर से त्रिगुणात्मक सृष्टि की रचना हुई। वे ही आदि, मध्य और अंत हैं।

केवल यही नहीं। हिंदू धर्मग्रंथ बताते हैं कि जीवन के ये तीन बीज-तत्त्व कभी एक-दूसरे के विनाश के कारण नहीं बनते। ब्रह्मा और महेश उसी विष्णु शक्ति के रूपांतर हैं। विष्णु के वामनावतार की पौराणिक कथा जिस पर अवलंबित है, वह श्रुति है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् (विष्णु ने इस सृष्टि को तीन डगों के विस्तार में नाप लिया है)। विष्णु के ये तीन डग उस विकास-क्रम की तीन मंज़िले हैं, जिनमें से होकर सृष्टि को आदि तत्व में प्रलय होकर अंतर्हित होने में गुज़रना होता है। ये तीन मंज़िलें हैं—अव्यक्त, जिसमें सृजन से पहले सृष्टितत्त्व था; व्यक्त, जो सृष्टि की अवस्था है और अंतिम अव्यक्त अवस्था जब समस्त सृष्टि प्रलय होकर शून्य को प्राप्त हो जाती है। यह नाश भी नहीं होती, वरन् बीज-भाव के रूप में दूसरे सृजन तक अंतर्द्धान रहती है। जीवन का बीज-तत्त्व नाशात्मक और असुंदर नहीं होता, इसलिए मृत्यु अथवा अंतिम अवस्था का अर्द्ध नाश नहीं हो सकता। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा भी है—

अव्यक्तानि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना॥

इस धारणा के कलामूल्य पर विचार करने पर हमें ज्ञात होता है कि इसने अनंत सृष्टि, अनंत स्थान और अनंत समय को एक ही दृष्टि में ग्रहण करने की चेष्टा की है। ऐसा कहकर हम आत्म-प्रशंसा नहीं करते। शिव का ताण्डव नृत्य इस विचारधारा का सबसे पहला क्रियात्मक रूप

है। नृत्य में आदि, मध्य और अंत आवश्यक हैं और उसे पूर्ण रूप से समन्वित होना भी है। हम जानते हैं कि उसका प्रारम्भ आधार अथवा सृजन है, वह सृष्टि अथवा स्थिति में अभिव्यक्त होता है और अंत में प्रलय को प्राप्त हो जाता है। जीवन की तीनों अवस्थाएँ नृत्य की लयमान आत्मा में एक होकर पूरी हो जाती हैं। शिव का यह महाकाल-नृत्य काल की सीमा समाप्त कर जाता है और समस्त प्राणी उसमें भाग लेते हैं। जड़ता से क्रियाशीलता में और क्रियाशीलता से फिर जड़ता में, यह उसका क्रम है। यह अंतिम जड़ अवस्था गति और धर्म से परे है। तब नृत्य ब्रह्म में विद्यमान हो जाता है और हमारी कला, दर्शन और धर्म अपनी-अपनी सीमाओं में इसी ब्रह्म की अनुभूति चाहते हैं।

इस प्रकार त्रिमूर्ति ने ज्ञान और कला के क्षेत्रों में भारतीय दृष्टिकोण के विकास को प्रभावित किया है। उसने हमारी मानवीय चेष्टाओं को एकांगी होने से रोक दिया है। हमारे कलाकार सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् अथवा ज्ञान, कर्म, उपासना की विभाजक रेखाओं को नष्ट करने में प्रयत्नशील रहे हैं।

संस्कृत-साहित्य के दृश्य और श्रव्य-काव्य सुखांत हैं। हमारे साहित्य का यह स्वभाव ऊपरी दृष्टि से देखने वाले को तो और भी स्पष्ट हो जाता है। व्याख्या में कहा जाता है कि संस्कृत-साहित्य की इस विशेषता का कारण एशिया की जातियों की रोमांटिक (अतिरंजनशील) और कल्पनाशील प्रवृत्ति है। किसी हद तक यह ठीक हो भी सकता है और इस प्रवृत्ति के लिए हमें बहुत कुछ मूल्य चुकाना भी होगा। परंतु सब ले-देकर हमें इसका कारण भारतीय विचारधारा और दर्शन में ही कहीं खोजना पड़ेगा।

भारतीय विचारधारा और दर्शन और उनके द्वारा साहित्य, संगीत, स्थापत्य और चित्रकला त्रिमूर्ति की ऐतिहासिक धारणा में रँगे हुए हैं। हमारी सभ्यता और कला का लक्ष्य शिव रहा है। दुःखांत स्वर के लिए उसके समक्ष में स्थान ही नहीं है। हमारे विचारों के नीचे जो फल्गु का स्रोत बह रहा है, वह पुकार-पुकार कर कहता है—"शिव नहीं है, तो वह चिरकालिक भी नहीं है।" हमारी धारणा की दुर्गा कल्याणी और धात्री भी है। लोकमंगल की यह भावना, सत्यम् और सुन्दरम् को शिव में समन्वित करने का यह विचार हमारी कला की नीवों में पड़ा है। मृत्यु को उसने सुंदर बना दिया है—नहीं, उसने मृत्यु को और जीवन के प्रति दुःखमय धारणा को निकाल बाहर किया है। उसने आनन्द का रूप ग्रहण कर लिया है। 'आनन्द से सृष्टि की उत्पत्ति हुई, आनन्द में प्रलय के बाद सृष्टि प्रतिष्ठित होगी।' कहाँ है तब मृत्यु, शोक और दुःख!

हिन्दू-कलाकार जिस शिव की प्राण-प्रतिष्ठा की चेष्टा करता है, वह क्या है?

विश्वात्मा में लोक-मंगल का जो तत्त्व है, वही यह शिव है। इस एक तत्त्व में प्रकाश के सभी तत्त्व घुल-मिल कर सार्वभौमिक श्वेत का निर्माण करते हैं। किसी भी वर्तमान वस्तु को छोड़ नहीं दिया जाता, परन्तु प्रत्येक वस्तु को अस्तित्व और सौन्दर्य के ऊँचे धरातल पर उठा दिया जाता है। शिव-देवता को हमारे कलाकारों ने अघोरनाथ (अमांगलिक वस्तुओं के स्वामी) के रूप में चित्रित किया है और पौराणिक सर्पों और नरमुंडों की माला उन्हें धारण कराई है। वे उन भूली-भटकी आत्माओं के देवता बन गये हैं, जो सृष्टि के पाताल-लोक (Nether Depths) में रहते हैं, परन्तु उनका मस्तक चन्द्रमा के

हीरे से अभिषिक्त है और गंगा मा का जल उनके कर्दम-कलुष धो देता है। अमृत और विष शिव में हैं, परन्तु अमृत ने शिव पर प्रभुत्व प्राप्त किया है। यह मानवता की ऐसी तस्वीर है, जो अनन्त शांति के स्वच्छ प्रकाश से उद्भासित हो उठी है। पुराण में शिव के सम्बन्ध में कथा है कि उन्होंने संसार का विष आकंठ पी लिया है।

हमारे कलाकार के लिए इस सबका क्या मतलब है? केवल यही कि वह मानवता के गन्दे पाताल को—भूली आत्माओं के संसार को—सौन्दर्य की खोज में आँख की ओट नहीं कर जाता। प्रत्येक वस्तु उसकी कला का आधार हो सकती है, परन्तु उसका अन्तिम स्पर्श कुरूपता को सौन्दर्य और अमंगल को मंगल में बदल देता है। अपने शिव देवता की तरह वह सृष्टि का गरल-पान कर जाता है और उसे अमरों के अमृत में परिवर्तित कर विश्व को लौटा देता है। पिछले पृष्ठों में हमने मानवीय मन की तीन अवस्थाएँ बताई हैं—सत्, चित और आनन्द। कला इनमें से अन्तिम को अधिक मानती-जानती है। आनन्द की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाएं हैं—साधनावस्था और सिद्धावस्था। दूसरी अवस्था में कवि अथवा कलाकार आनन्द की लहरों को ग्रहण करने के लिये बेतार के स्टेशन की तरह काम करता है। उसे कुछ भी करना नहीं होता—केवल उस दिये हुए संदेश के प्रति प्रतिक्रियाशील होना होता है। पहली अवस्था का साधक कवि उन जीवों के प्रति सहानुभूति प्रगट करता है, जो अन्धकार में 'अधिक प्रकाश' (गेटे) के लिए तड़प रहे हैं और उनके भविष्य को समीप ला देता है'। ये दो अवस्थाएँ विकास की अवस्थाएँ नहीं समझ लेनी चाहियें।

पिछले प्रकार के कवि (साधक कवि) की कविता को हम अपने

विषय को स्पष्ट करने के लिए पेश करते हैं। कवि संसार के जीवों का भार अपने ऊपर लेता है। वह अंधकार पर विजय पाने के लिए प्रकाश की चेष्टाओं के गीत गाता है और उस चीज़ को जन्म देता है जिसे हम महाकाव्य (Epic Poetry) कहते हैं। इस प्रकार की कविता वही है जिसे थियोडोर वाट्स डटन (Theodore Watts Dunton) ने 'शक्ति की कविता' (Poetry of Energy) कहा है। भारतीय कवियों ने इस प्रकार की कविता के क्षेत्र में बहुत कुछ लिखा है—रामायण, महाभारत, रघुवंश, शिशुपाल-वध, किरातार्जुनीय, पद्मावत, रासो (हमीररासो और पृथ्वीराजरासो)।

मैंने यह विवेचन इसलिये किया है कि दिखाऊँ कि हमारे कवि और कलाकार प्रकृति और संस्कृति के गन्दे, अविकसित और अंधकारमय तत्वों से घृणा नहीं करते थे। कालिदास जहाँ पुर की स्त्रियों (पौरांगनाओं) के कटाक्षों को देख लेते हैं, वहाँ भृकुटि विलास से अनभिज्ञ (भ्रूविलासानभिज्ञैः) किसान-जनों की स्त्रियों के नेत्रों (प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः) की अवहेलना नहीं करते। हमारे कलाकारों ने हमारे अस्तित्व के विषम स्वरों में भी स्वरैक्य स्थापित किया है। उन्होंने मानवीय चेतना के तीनों क्षेत्रों (ज्ञान, कर्म और उपासना) में सौन्दर्य के दर्शन किये हैं। उन्होंने अमंगल, अत्याचार, दुःख और घृणा के चित्र दिये हैं, परन्तु उनके वे सभी चित्र शिव की सृष्टि करते हैं। वे जीवन के मांगलिक तत्वों का आह्वान करते हैं और इस प्रकार आनन्द में शिव की प्रतिष्ठा में सफलीभूत होते हैं।

कला जिसे शिव कहती है, उसे हमारे धार्मिक दार्शनिक 'धर्म' कहते हैं। अधर्म पर धर्म की जय और अंधकार पर प्रकाश की जय

हमारे कवियों का आदि विषय रहा है। पुनः-पुनः उन्होंने इसी की आवृत्तियाँ की हैं। जिसका फल मंगल है, वह कभी अमंगल नहीं हो सकता और इसी से हमारे महाकाव्यों (जयकाव्य और रामायण) की गाथाओं में युद्ध और उसके संसर्ग की भयानक, रौद्र और दुःखमय घटनाएँ ली हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों का रूसी साहित्य, संभव है, हिन्दू कलाकारों के आदर्श के विपरीत जान पड़े। यह तभी संभव है, जब हम उस साहित्य को केवल सत् दृष्टि से देखकर अपनी धारणा कर लें। परन्तु ऐसा नहीं है। दोस्तोवस्की की तरह का निराशावाद (जिसमें मानवीय आत्मा और उसके साथ की आकांक्षाओं की अवहेलना की गई है) सच ही हमारा लक्ष्य नहीं रहा है। यह भी सच है कि वह हमारी आदर्शवादी विचारधारा का प्रतिद्वन्दी है। परन्तु प्रकाश पाने की चेष्टा में उठती हुई और उसमें असफल होती हुई मानवीय आत्मा ने सदा ही हमसे सहानुभूति पाई है। रामायण और महाभारत के हमारे महाकाव्यों में प्रकाश अंधकार का संहार करता है और अशिव पर शिव की सत्ता विजय पाती है। परन्तु यह केवल एक धारा थी और अपनी ईश्वरप्रदत्त प्रवृत्ति (Intution) और पूर्णता के प्रेम के कारण हिन्दू कलाकार उसी ओर बह गया। शेली (Shelley) का 'इस्लाम का विद्रोह' (Revolt of Islam) दूसरी धारा है, जिसमें प्रकाश की शक्तियाँ अंधकार के राक्षसों के विरुद्ध उठी हैं और अपनी शक्ति का परिचय मात्र देकर विरोध में ही समाप्त हो गई हैं। इस प्रकार का अंत दुखांत नहीं कहा जा सकता। पारिभाषिक अर्थों में वह 'सुखांत' नहीं भी हो, परन्तु यदि मनुष्य के 'स्वर्ग से पतन' में दुःखान्त

भावना हो भी, तो यह पतन इस तरह विजय है कि उसने अदृश्य सत्ता की शक्ति के विरुद्ध आवाज़ उठाई और अपने में शक्ति का आह्वान किया। किसी बड़े आदर्श के लिए चेष्टा करने और उसी चेष्टा में मर-मिटने में भी एक सौन्दर्य है। हमारे कवियों ने महाकाव्यों की रचना करते हुए इसी कर्म-सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है। रावण पर राम की विजय और कौरवों पर पाण्डवों की विजय थोथा शिक्षावाद ही नहीं है। हमारे कवि संघर्ष और प्रतिद्वन्द्वी तत्त्वों के भीतर से सौन्दर्य के बीज-तत्त्व तक पहुँचे हैं।

साम्यवाद के इन दिनों में गोर्की फ़ैशन हो गया है। वह जनता का पहला लेखक माना जाता है, जिसने पद-दलित जन-समूह की ओर से आवाज़ उठाई। गोर्की ने अपने चित्रण के ढंग को 'समाजवादी यथार्थवाद' (Socialist Realism) कहा है। वह समाज के नीचे के लोकों और निम्न श्रेणियों के चित्र देता है और समाज के माने-जाने अपराधियों (Blue Book Criminals) को नायक बनाकर हमारी सहानुभूति पर विजय पा जाता है। यह घृणित प्रकार के पुरुष और स्त्री, जो फैक्ट्रियों, चाय-घरों, शराबखानों और जीवन के प्रत्येक निम्न-विभाग में पाये जाते हैं, मानवीय आत्मा के व्यङ्ग चित्र नहीं हैं। वे नरपशु हैं अवश्य, परन्तु उनकी आत्मा में अब भी प्रेम और मानवता की चिनगारी है। वे प्रकृति से प्रेम करते हैं; समय-समय पर महान् भी हो सकते हैं। गोर्की की कला उनकी कभी की भूली-भटकी आत्मा को सर्वनाश से बचा लेती है। मानवता और कला के इस आदर्श में और हमारे कला-सूत्र (सत्यं शिवं सुन्दरं) के आदर्शों में विरोध नहीं हो सकता। यह केवल व्यावहारिक साफल्य है। गोर्की की कला निराशावादी

नहीं है ; अंत तक वह आशावादी है। 'मनुष्य में विश्वास करो'—इस सूत्र पर उनकी नींव टिकी है। हिन्दू-कला की जड़ में भी 'सर्वात्मनाः परमात्मनः' और 'बहुजनहिताय' जैसी भावनाएँ काम कर रही थीं और यद्यपि उनका ह्रास हो गया और यह भावनाएँ अव्यावहारिक शास्त्र-सिद्धांत बनकर रह गईं पर उनका नाश कभी नहीं हुआ।

त्रिमूर्ति की इस कल्पना और सत्यम् और सुन्दरम् को शिवम् में समन्वित करने की महत्ता ने हमें स्रोत में अलक्ष्य बहने से बचा लिया है। यूनानियों ने 'जीवन की दुखमय धारणा' (Tragic view of Life) के सिद्धान्त में अपनी आत्मा खो दी। उन्होंने 'कला के लिये कला' अथवा कला अनुवाद के लिए (Art as translation) जैसे विचारों को जन्म दिया। पहला विचार उन्हें कहीं भी ले नहीं जाता, दूसरा अनावश्यक व्याख्याओं और चित्रणों में घसीट ले जाता है। 'कला लोक-मंगल के लिए', 'सत्य और सुन्दर को शिव से विमुख नहीं रक्खा जा सकता'—यह हमारी कला का वह आदर्श है, जो शताब्दियों के सांस्कृतिक बवंडरों में हमारा ध्रुव रहा है।

पीछे जो कहा है, उसे अपने वर्तमान काल के लेखकों और कलाकारों से किस प्रकार संबंधित करूँ ? कुछ कलाकार तो पश्चिमी विचारों के प्रभाव में बह गये हैं। अन्य जमे हुए हैं। श्री शरत्चंद्र चट्टोपाध्याय ने ट्रेजिडी को अपना लिया है, परन्तु साथ ही भारतीय आदर्शों को जाने नहीं दिया है। दुःख के भीतर से ही मानवता की तपी स्वर्ण-भूमि निकलती है। दुःख अमंगल नहीं, मंगल है। 'गृहदाह', 'पल्ली-समाज' 'श्रीकान्तेर भ्रमण कथा' आदि उनकी कहानियाँ इसी दुःख-तत्व को पुष्ट करती हैं। कला के भारतीय आदर्शों से उनकी यह व्याख्या उलझती

नहीं। शरच्चन्द्र के 'देवदास' को दुखांत कहा जाता है। आलोचक इस स्थान पर भ्रम में पड़ जाता है। प्रेम का सबसे स्वादिष्ट फल त्याग है और यद्यपि 'पारो' के साथ अंत करते हुए देवदास की चिता पर लेखक ने धूल उड़ाने की चेष्टा की है, परन्तु ईश्वरेच्छा ने धूल को सोने में बदल दिया है और मृत्यु को अमर सुन्दरता प्रदान की है।

यह भारतीय विचार के दूसरे पहलू को हमारे सामने लाता है। त्याग! त्याग और दुःख प्रेम के कड़वे-मीठे फल हैं। हमारी कला शिव, कल्याण अथवा लोक-मंगल की धारणा पर टिकी है और इस प्रकार हमारे कवि और कलाकार का चित्रित प्रेम कामजन्य नहीं हो सकता।

हमारी कला की प्रजातंत्र सत्ता में प्रेम को उचित ही स्थान दिया गया है। हमारे पूर्वज इंद्रियाकांक्षा (Sex-stimulus) की महत्ता को लारेंस (D. H. Lawrence) और फ्रायड (Freud) जैसा ही भली भाँति समझते थे; परन्तु उन्होंने इंद्रियतत्व को उत्तेजिना कभी नहीं दी। उन्होंने मानसिक, भाविक और आत्मिक क्रियाशीलता के ऊँचे वातावरणों में पहुँचने के लिये उसका निग्रह आवश्यक बताया। वे धूल से घृणा करते थे, उससे बचते थे और दूर भाग जाते थे। इसलिये नहीं कि वे अपने पार्थिव तत्त्वों के लिए उसकी महत्ता के संबंध में अज्ञानी थे। हमारे आज के दिनों में प्रेम ने व्यापारिक मूल्य प्राप्त कर लिया है। पूर्वजों के समय में ऐसा नहीं था।

कालिदास ने अपने एक से अधिक काव्य में त्याग को कला के प्रारम्भिक तत्त्व के रूप में ग्रहण किया है। अर्थ यह है कि उसके काव्य की नींव संयम की दृढ़ चट्टान पर है। दृष्टान्त के रूप में मैं दो काव्य लेता हूँ—

अभिज्ञान शाकुन्तलम् और कुमारसंभव। कण्व के आश्रम में शकुन्तला और दुष्यंत परस्पर प्रेमचिह्न बदल कर गंधर्व-विवाह में परिणीत हुए। उनके-से वातावरण में उत्पन्न प्रेम सच्चा नहीं हो सकता। वह कामजन्य और दैहिक होगा। कालिदास भलीभाँति जानते थे कि इस प्रकार का प्रेम हमारे अस्तित्व का चरम लक्ष्य नहीं हो सकता। उसे अभिभूत होकर ऊँचे धरातल पर उठना होगा। यही दिखाने के लिये उसने उनके काम-जन्य प्रेम की परिणिति विरह में की है। कामजन्य प्रेम अंध-प्रेम है। वह आत्मस्वीकृति (Self-Assertion) है।

हमारा बीज-विचार और बीज-उत्तेजक आत्मनिग्रह रहा है, आत्म-स्वीकृति नहीं। हम भारतीयों की विचार-धारा एक विशेष प्रकार की है। हमने अपने चारों ओर असंख्य सांसारिक पदार्थों का चयन कर लिया है, परंतु हम सदैव ही उन वस्तुओं से दूर हट जाने के लिए तैयार हैं। असंख्य के रहते एक आत्मा—अहम्—की सिद्धि नहीं प्राप्त होती। इस अनैक्य के लिए हमारी स्वीकृति क्यों मिले ?

हमारा ऊँचा साहित्य मानवीय विकास के वे ढंग बताता है, जिनके द्वारा व्यक्ति आत्मनिग्रह को ग्रहण करता हुआ आत्मानुभव कर सके। इस आत्मनिग्रह के द्वारा भारतीय प्रेम पूर्णता को प्राप्त करता है और वासना से प्रेम के ऊँचे धरातल पर उठ जाता है। शकुंतला को लो। दुष्यंत जब उससे मिलता है, वह भावुक कुमारी मात्र है। जब वह उसे फिर स्वर्ग में मिलता है, तो उसने विरहाग्नि में अपने निम्न तत्त्वों को भस्म कर शुद्धता प्राप्त कर ली है। आत्मग्लानि और तप के द्वारा वह स्वर्ण बन गई है। कालिदास की चेष्टाओं में पुनः-पुनः नायिकाओं को आत्मनिग्रह की परीक्षा में पूरी उतरना होता है। अंत में ये कवि की

सहानुभूति की अधिकारिणी होती हैं और नायक द्वारा नायिका के ग्रहण हो जाने पर परिच्छेद समाप्त हो जाता है। जीवन के नाट्य का अंतिम पटाक्षेप पुनः-पुनः इसी प्रकार होता है।

यह अस्वीकृति और स्वीकृति दैहिक नहीं भी हों, वे मानसिक अथवा आध्यात्मिक हों। 'कुमारसंभव' के प्रारंभ में पार्वती शिव को अपने देह—सौन्दर्य से लुभाना चाहती हैं। उनका प्रेम व्यक्तिगत और कामुक है। वह यौनेच्छा—वासना—मात्र रह गया है। इसकी स्वीकृति शिव देवता की सारी प्रकृति को दैव-प्रवृत्ति के विरोध में उपस्थित कर देती है। वह उसे अस्वीकृत कर देते हैं। परंतु जब पार्वती वर्षों की तपश्चर्या और ब्रह्मचर्य द्वारा शुद्ध हो जाती है और रूप की असार्थकता जानकर उसकी निन्दा करती है (निन्दि रूपम् हृदयेन पार्वती...); जब वह आत्मा के सौन्दर्य द्वारा उन्हें प्राप्त करने की चेष्टा करती हैं, तभी भावना में शिव उन्हें स्वीकार करते हैं। स्वयम् शिव यह स्वीकृति उस समय देते हैं, जब उन्होंने काम को भस्मीभूत कर दिया है, जिसके अर्थ यह होते हैं कि उन्होंने समस्त क्षणिक प्रेम-भावनाओं का नाश कर दिया है।

आत्मनिग्रह के इस विषय को महाकवि ने इतनी महत्ता दी है कि संभोग सुख के लिए उनके काव्य में कोई स्थान नहीं। यों कह देने भर से कालिदास के प्रति सौन्दर्य-प्रधान कवि मात्र की जो हमारी धारणा है, उसे धक्का लगेगा, परन्तु है ऐसा ही। मेघदूत के कालिदास से कवि का उत्तरोत्तर विकास होता गया है। अंत में तो उसने विवाह की परिणिति संतानोत्पत्ति में की है। उसका मूल मंत्र है बंधन और संयम, निर्बंध स्वतंत्रता नहीं।

हमारे कवियों और स्वप्न-द्रष्टाओं ने लोकमंगल की इस भावना को

बनाये रखा है। यह सत्य है कि राजसभा-साहित्य और चारण अथवा वीर कविता के प्रादुर्भाव के साथ उनमें से कुछ ने हमारे इस आकाश-दीप का लक्ष्य खो दिया। यही नहीं, प्रेम को आत्मतुष्टि के रूप में स्वीकार कर उन्होंने अपना संयम नष्ट कर दिया। रीतिकाल के इन कवियों ने व्यर्थ के शब्दों और गठनों में अपनी वासनाओं और दुर्भावनाओं को चरितार्थ किया है।

भारतीय कला और संस्कृति के पुनर्जीवन के इस युग में प्राचीन तत्त्वों को पुनर्जीवित करने की आशा की जाती है। कम से कम रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कुछ कविताओं और 'चित्रांगदा' नाम के एक नाटक में इस प्राचीन उद्देश्य की पुनरावृत्ति ही है। 'रात्रि और प्रभाते' में इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर कवि ने नारी की दो मूर्तियाँ व्यक्त की हैं। 'कल मधुयामिनी में ज्योत्स्ना निशीथ में उपवन में बैठ कर यौवन की फेनिल सुरा तुम्हारे होठों लगाई थी'—रात की ऐसी नायिका प्रभात में जब—

शांत उषाय, निर्मल बाताय
जाह्नवी नदी-तीरे
स्नान अवसाने, शुभ्रपरिधाने
चलिआछे धीरे-धीरे

(शांत ऊषा की निर्मल वायु में जाह्नवी के किनारे-किनारे स्नान के बाद सफ़ेद परिधान पहरे धीरे-धीरे चली आती है) तब इस मंगलमय नारीमूर्ति के चित्रण से कवि की कल्पना और लेखनी सार्थक हो गई जान पड़ती है।

बौद्ध कालिक कला के आविर्भाव के पहले ही भारतीय मस्तिष्क ने आदर्शवाद को स्वीकार कर लिया था। भारतीय कला की विशेषता यही थी कि वह आत्मा को प्रकाश में लाना चाहती थी। प्रारम्भ में यह ध्येय

दैहिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के विरुद्ध नहीं था। बौद्धकाल के पहले की मूर्तियाँ इसकी साक्षी हैं। परन्तु आदर्शवाद के शताब्दियों के प्रयोग के बाद देह और दैहिक गुणों के विरोध में प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गई। बुद्ध का दर्शन आत्म-अस्वीकृति (negation) का दर्शन है। निर्वाण-प्राप्ति की पहली सीढ़ी देह की अस्वीकृति थी, इसीसे कलाकारों का रूप-गठन की अभिव्यक्ति पर पहले-सा अधिकार नहीं रहा। बाद में बुद्ध को केवल भाव—आत्म—के रूप में ग्रहण किया जाने लगा। बुद्ध की मूर्तियाँ दैहिक सौन्दर्य की आदर्श रचनाएँ नहीं हैं, परन्तु उनके वाह्य प्रकार का निर्माण आन्तरिक शांति और एकता के प्रदर्शन के लिए ही हुआ है। इन सूक्ष्म गुणों की अभिव्यक्ति के लिए कलाकारों ने प्रतीकों की खोज की। कमल, भौंरे, ताल, महावन, लताएँ, शख और चक्रादि उनके प्रतीक थे जिनके द्वारा उन्होंने गुणों की अभिव्यक्ति की एक भाषा निर्माण कर ली थी। कालांतर के बाद आज ये प्रतीक हमारे भावों को उत्तेजित करने में सफल नहीं होते और इसी से प्राचीन स्थापत्य और कला को ग्रहण करने में हम लाचारी होती है। प्रतीक उसी समय तक कलाकार के काम के हैं जब तक वे हमारे मन और आत्मा को स्पर्श न कर पाते हों। ग्रीक कथा में दैहिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हमें अब भी लुभा लेती है। इसका कारण यह है कि दैहिक और पार्थिव को मनुष्य किसी भी काल में ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि वे कोई गहरी चीज़ नहीं देते। परन्तु यदि हम आज इन कलाकारों के प्रतीकार्थ नहीं समझ पाते, तो हमें प्राचीन भारतीय कलाकारों के उच्चादर्श को तो सराहना ही चाहिये। आत्मा की अभिव्यक्ति बड़ी कठिन और कला की सबसे ऊँची समस्या है और भारतीय कलाकार कला और अभिव्यक्ति की इस ऊँचाई

पर नृत्य और किसी हद तक स्थापत्य अथवा मूर्तिकला में सफल हुआ है। बाह्य अंगों पर ध्यान न देकर भी बुद्ध की जो मूर्ति हमारे कलाकारों ने दी है, उसके मुख भी शांत मुद्रा स्पृहणीय हैं।

नृत्य तो केवल किसी भाव अथवा विचार की दैहिक अभिव्यक्ति के रूप में ही अस्तित्व प्राप्त कर सकता है। देह ही नृत्यकार का साधन है, उसे वह अग्राह्य नहीं कर सकता। चित्रकार और मूर्तिकार किसी सीमा तक देह को अनदेखा कर इस प्रकार निर्माण कर सकते हैं कि उनके चित्र और भावों को स्पष्ट कर सकें। कमल-जैसी आँखें और चरण, भौरों-से काले बाल आदि उनके लिए सत्ता रखते हैं। कभी-कभी वे नेत्रों के स्थान पर कमल और बालों के स्थान पर भौंरे भी बना देते हैं। इस प्रकार की आदर्शवादिता ने रूप के प्राकृतिक गठन और सौन्दर्य को नष्ट करने में बड़ी सहायता दी है। श्री नंदलाल बोस और श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का बंगाल चित्रकला का स्कूल इस परिपाटी का अब भी प्रचार और प्रयोग कर रहा है। संगीत और प्राचीन मूर्ति और चित्र-कलाशास्त्र के सम्मिश्रण से 'रूप-वाणी' नाम के नृत्य का अन्वेषण इस विषय में उल्लेखनीय है।

भारतीय मूर्तिकला को हम तीन कालों में बाँट सकते हैं—(१) विदिशा और साँची के स्तूपों का काल (२) अजन्ताकाल और (३) अलोरा-काल। अजन्ता काल की बौद्धकला के बाद भारतीय कलाकारों ने आत्माभिव्यक्ति छोड़ नहीं दी। साहित्य में कालिदास ने जिस प्रकार शकुन्तला नाटक में मृत्य और अमृत्य को एक ही दृष्टि में ग्रहण करने की चेष्टा की है, वही महान् दृष्टिकोण इलौरा के कैलाश-मंदिर और एलीफेन्टा की विशालकाय शिल्प-रचनाओं में स्पष्ट है। यह सच है कि

इस काल की रचना में अजन्ता और बाणभट्ट की कादम्बरी की सूक्ष्म मीनाकारी नहीं है, परन्तु इसका अर्थ यही है कि कलाकार वस्तु-पदार्थ से अधिक हट कर कला की आत्मा में ही रहने लगे हैं। इसी मनुष्य के भीतर की महान् और सर्वग्राही आत्मा को कथाकारों ने विराट् भगवान की मूर्तियों में निष्कासित किया है।

संक्षेप में कहने को यही रह जाता है कि समस्त भारतीय साहित्य और कला के पीछे आत्मा और तज्जन्य महत्ता के प्रदर्शन की जो भावना चली है, उसका मूल भारतीय दर्शन की दृढ़ भित्ति पर है। राष्ट्र निर्माण के इन दिनों में कला और साहित्य का निर्माण करते समय भारतीय कलाकारों और साहित्यिकों को अपनी पैतृक सम्पत्ति छोड़ नहीं देनी होगी। संसार की कलाकृतियों में हमें उसका स्थान निर्धारित करना होगा और नवीनता के प्रत्येक आरोपण में प्राचीन तत्त्वों की यथेष्ट रक्षा करनी होगी। तभी महान् अतीत से चलकर हम महान् भविष्य की प्राप्ति कर सकेंगे।

२

साहित्य

'साहित्य' किसे कहते हैं, इस पर प्राचीन और अर्वाचीन विचारकों ने अनेक विचार प्रगट किये हैं। इसीलिए साहित्य की अनेक परिभाषाएँ भी हमारे सामने हैं जैसे १—परस्पर सापेक्षाणाम् तुल्य रूपाणाम् युगपदेक क्रियान्वयित्वम् साहित्यम्, २—तुल्यवदेक क्रियान्वयित्वम् बृद्धि विशेष विषयित्वम् व साहित्यम्, ३—मनुष्य कृत श्लोकमय ग्रंथ विशेषः साहित्यम्, ४—"सहित् शब्द से साहित्य की उत्पत्ति है"—अतएव, धातुगत अर्थ करने पर साहित्य शब्द में मिलन का एक भाव दृष्टिगोचर होता है। वह केवल भाव का भाव के साथ, ग्रंथ का ग्रंथ के साथ मिलन है, यही नहीं वरन् वह बतलाता है कि मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अंतरंग योग-साधन है। ५—"Literature, a general term which in default of precise definition, may stand for the best expression of the best thought reduced to writing. Its various forms are the result of race-peculiarities, or of diverse individual temperament or of political circumstances securing the predominance of one social class which

is thus enabled to propagate its ideas and sentiments"
6—"Literature is only one of the many elements in which the energy of an age discharges itself; in its political movements, religious thought, philosophical speculation, art, we have the same energy over-flowing into other forms of expressions."

वास्तव में साहित्य की कोई भी एक निश्चित परिभाषा देना कठिन है। जो चीज़ आज बाज़ार में साहित्य के नाम पर चलती है, उसके अनेक रूप हैं—कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना, जीवन-चरित्र, यात्रा, ललित निबन्ध एवं वैज्ञानिक, आर्थिक औद्योगिक समस्याओं पर वे विचार जो लेख या निबन्ध के रूप में आबद्ध हैं और जिन्हें हम 'उपयोगी' साहित्य कह सकते हैं। इस प्रकार का विभाजन स्पष्टतः कृत्रिम है। उसका आधार साहित्य का बाह्य रूप है। मूलतः इनमें भेद कहाँ है? यदि हम उस सब सामग्री का विश्लेषण करें जो इन भिन्न रूपों में हमें हस्तगत होती है तो हमें क्या मिलेगा?—मनुष्य की कल्पना, उसमें इंद्रिय द्वारा प्राप्त अनुभव, उसके विचार, उसकी भावनाएँ एवं भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ, उसका ज्ञान, आध्यात्मिक अनुभूति, उसकी सत्यप्रियता जो कहीं सामग्री से अलग हैं, कहीं उसके साथ-साथ चलती हैं। यदि हम इस विश्लेषण के आधार पर संक्षेप में साहित्य की परिभाषा देना चाहें तो हम कहेंगे—किसी मनुष्य के इंद्रियजन्य, विचारजन्य एवं आध्यात्मिक अनुभवों पर उसी मनुष्य के अथवा अन्य संवेदनशील अथवा विचार-शीला मनुष्य के मन और हृदय की जो प्रतिक्रिया होती है, उससे जो वस्तु भाषा द्वारा

प्रगट होती है, वह साहित्य है। यदि हम केवल ललित साहित्य तक ही सीमित रहना चाहें तो "कला बोध के द्वारा परिचालित" यह शब्द "भाषा द्वारा प्रगट" के पहले जोड़ सकते हैं।

परन्तु फिर भी हमें समझ रखना चाहिये कि "साहित्य" अत्यंत व्यापक शब्द है। उसे एक किसी निश्चित परिभाषा में बाँधना कठिन है। परन्तु यदि हम जान लें कि साहित्य में क्या चीजें होती हैं तो यही अलम् है। साहित्य नाम से जो चीज़ हमारे सामने चलती है वह लिपि-बद्ध या अक्षरबद्ध (या शब्दबद्ध क्योंकि अक्षर तो ध्वनि के संकेत मात्र हैं) है जो गद्य और पद्य दोनों रूपों में हमारे सामने आती है। इसमें मनुष्य के विचार, उसकी कल्पना, उसकी अनुभूतियाँ प्रगट होती हैं। इसलिए हम एक व्यापक परिभाषा इस प्रकार भी बना सकते हैं—"साहित्य व्यक्ति के (अथवा मनुष्य जाति के) विचारों, कल्पनाओं और अनुभूतियों का लिपि-बद्ध रूप है।"

हम किसी भी वस्तु को तीन प्रकार से देखते हैं— इंद्रिय द्वारा, विचार द्वारा और हृदयादेश द्वारा। वास्तव में पहले दोनों प्रकारों का देखना इतना साथ होता है कि जिस वस्तु को हम देखते हैं उसका असली रूप हमारे विचारों में से छन कर ही हमें प्राप्त होता है। यह नहीं कि हम वस्तुओं को केवल वाह्येन्द्रियों द्वारा ही कभी नहीं देखते, ऐसा भी होता है, परन्तु उससे ऊँचे साहित्य का निर्माण नहीं होता। तीसरे प्रकार का देखना वह होता है जब हम वाह्य वस्तु या विचार को हृदय की भावनाओं से रंगकर देखते हैं। इससे रसप्रधान साहित्य की सृष्टि होती है। परन्तु बहुधा तीनों प्रकार का देखना साथ चलता है। हम ज्ञानेन्द्रियों द्वारा वाह्य पदार्थ को देखते हैं, मस्तिष्क का प्रयोग करके उसे अन्य

वस्तुओं की बीथिका देकर एक नया रूप दे देते हैं, उस पर हृदय का प्रयोग करके अपनी "छाप" लगा देते हैं। साहित्य के मूल में यही तीनों प्रकार की दृष्टियाँ हैं।

प्रत्येक देश और जाति के साहित्य में हमें तीन वस्तुएँ मिलेंगी—वह जाति क्या देखती है, क्या सोचती है, उसकी क्या भावनाएँ हैं। कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिन्हें सब जातियाँ समान रूप से देखती हैं, कुछ विचार ऐसे हैं जिनमें जाति-जाति में भेद नहीं है; अवश्य कुछ किसी विशेष विचार पर अधिक बल देती हैं, कुछ कम। भाव अधिकतः सब जातियों के समान हैं—वही रति, क्रोध, जुगुप्सा, करुणा, हास, उत्साह। जिस साहित्य का आधार ये समानताएँ हैं, उसे हम "शाश्वत साहित्य" कह सकते हैं। इन्हीं समानताओं के कारण कोई भी महान् साहित्यिक रचना सहज ही सब जातियों और सब देशों में लोकप्रियता पा जाती है। परन्तु साहित्य का एक बड़ा भाग ऐसा भी है जो जाति विशेष और देश विशेष की वस्तु होता है क्योंकि उसका आधार होती हैं जाति-देशगत विशेषताएँ। इस विशेष साहित्य में उस जाति का विशेष दृष्टिकोण, उसकी अपनी समस्याएँ उसका अपना व्यक्तित्व प्रस्फुटित होता है।

परन्तु प्रत्येक युग में कुछ ऐसी विशेषताएँ भी होती हैं जो देश-जाति को पारकर समान रूप से प्रतिष्ठित हो जाती हैं। ये विशेष युग की अपनी सम्पत्ति होती हैं। इसी कारण एक युग-विशेष के साहित्य में—चाहे वह किसी जाति का हो—बहुत-सी समानताएँ रहती हैं।

"So behind the literature of any period lie the combined forces—personal and impersonal—which

made the life of that period, as a whole what it was."

यह सब कुछ है परन्तु साहित्य में व्यक्ति का भी स्थान है। साहित्य का निर्माणकर्त्ता व्यक्ति ही होता है। युगगत, देशगत, जातिगत विशेषताएँ उसी के माध्यम द्वारा साहित्य में प्रवेश करती हैं। कारण कि वह युग, जाति, देश की संस्कृतियों से प्रभावित होता रहता है। स्वयम् उसके व्यक्तित्व के निर्माण में इनका हाथ कम नहीं रहता। शाश्वत-गुण भी उसी के द्वारा प्रवेश करते हैं क्योंकि मनुष्य सब जगह समान है। परन्तु जहाँ छोटे साहित्यकारों की रचनाएँ इन प्रभावों के नीचे दब जाती हैं वहाँ बड़े साहित्यकार कुछ ऐसी चीज़ भी दे जाते हैं जो उनकी अपनी होती है। बाद में वही चीज़ उनके साहित्य के द्वारा युग, देश, जाति को प्रभावित करके उनकी भी हो जाती है। तुलसी के साहित्य में रामभक्ति का उत्साह उनकी वैयक्तिक वस्तु है। वह युग की वस्तु है। वह युग की वस्तु उतनी नहीं है जितनी वह तुलसी के काव्य के माध्यम से युग को प्रभावित करती है।

साहित्य और विज्ञान में क्या भेद है? साहित्य का आधार है लौकिक ज्ञान और कल्पना। विज्ञान का आधार है प्रयोग और प्राप्ति। साहित्य कहता है—चाँद सुन्दर है, रमणी के मुख की तरह, वास्तव में रमणी के मुख से कुछ थोड़ा ही। विज्ञान कहता है—नहीं, चाँद उसी तरह कठोर, निर्जीव धरातल और पहाड़ों का पिंड है जैसे यह पृथ्वी है। वहाँ सुन्दरता की कोई बात नहीं। साहित्य कहता है—गुलाब फूलों का राजा है। विज्ञान कहता है—नोचो, ये पत्ते हैं, ये पंखुड़ियाँ, ये डिम्ब, यहाँ कहाँ है राजापन! साहित्य कहता है मेरी बात सच है, विज्ञान कहता है मेरी बात। सामन्जस्य इस प्रकार बिठाया गया है—साहित्य भी सच कहता है, उसका सत्य

कल्पना का सत्य है; विज्ञान भी सच कहता है, उसका सत्य वास्तविक सत्य है। देखा यह गया है कि जो कल कल्पना में सत्य था, वह आज वास्तव में सच हो गया है; जो आज वास्तव में सत्य है, वह कभी कल्पना में भी सत्य-रूप पा सकता है। इसी से विज्ञान और साहित्य के बीच की रेखाएँ खींचना कठिन है। मनुष्य के विकास के प्रारंभ में विज्ञान और साहित्य एक थे, अब जब कोई आइंस्टाइन विराट सृष्टि की कल्पना करता है तो भी विज्ञान और साहित्य की रेखाएँ मिल जाती हैं।

साहित्य के स्रोत के मूल में आदिम युग का समाज है। इंगितों, भंगिमाओं और चित्रों से शुरू होकर उसने भाषा का रूप पाया और मनुष्य ने उसे सुरक्षित रखने के लिए लिपि का आविष्कार किया। तबसे लोकगीतों और कंठस्थ काव्य के रूप में चला आता रहा। वर्तमान युग में छापे के आविष्कार ने इसके अनेक रूप कर दिये और काव्य के अतिरिक्त गद्य में भी इसका प्रकाशन संभव हो गया। आज साहित्य अनेक रूपों में इतनी बड़ी मात्रा में हमारे सामने आ रहा है कि हमें उसे अगली पीढ़ी के लिए सुरक्षित करने के लिए बड़े-बड़े पुस्तकालयों की आवश्यकता पड़ी है। इस संचित साहित्य-कोष ने हमारी सभ्यता की विकास की गति में सहस्रशः तीव्रता प्रदान की है। सच तो यह है कि यदि आज संसार का सारा साहित्य समुद्र में डुबो दिया जाय तो दो-चार पीढ़ियों के बाद हमें फिर बर्बरता से प्रारम्भ करके अब तक का पाठ नये रूप में सीखना पड़ेगा।

साहित्य का उद्देश्य

साहित्य के उद्देश्य के विषय में बड़ा मतभेद है। मनोविज्ञान कहता है—प्रत्येक जीवधारी "अहं" की भावना को पुष्ट करना चाहता है। वह "अपने को प्रकाशित करना चाहता है। इसी आत्म-प्रकाशन की भावना

ने मनुष्य के साहित्य" को जन्म दिया। आदर्शवादी कहता है—वह ऐसा प्रयत्न है जिसके द्वारा एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के निकट आता है। नीतिवादी कहता है—उससे मन और आत्मा का परिष्करण होता है। कलावादी कहता है—साहित्य का कोई उद्देश्य नहीं। वह स्वतः अपना उद्देश्य है। कलाकार या साहित्यकार जब अपने विचार, भाव या कल्पना प्रगट करता है, तो उसे कुछ और करना-धरना नहीं रह जाता।

साहित्य का साधन भाषा है। परंतु भाषा भी उसका उद्देश्य नहीं हो सकती। जितनी आवश्यकता मूर्तिकार को पत्थर की है, उतनी ही उपयोगिता साहित्य के निर्माता के लिए भाषा की होगी। जो साहित्यकार भाषा को साहित्य मान लेते हैं, उनके लिए शैली ही सब कुछ हो जाती है। परन्तु यह स्पष्ट है कि कोरे अनगढ़ पत्थर में कला का निवास नहीं है। इसी तरह भाषा की कलाबाज़ी से साहित्य उत्पन्न नहीं होता।

भाषा से आगे बढ़कर मिलते हैं विचार, कल्पना और भाव। विचार, यदि कलात्मक ढंग से प्रगट किए जाएँ तो साहित्य का रूप ग्रहण कर लेते हैं। कलात्मक ढंग हमने इसलिए कहा कि एक और ढंग भी है—उपयोगात्मक या व्यवसायी। कौन ढंग कलात्मक है, कौन व्यवसायी यह सहृदय पाठक जानता है। विज्ञान-संबंधी बहुत-सा साहित्य व्यवसायी साहित्य या उपयोगी साहित्य के अंतर्गत आ जायगा। कल्पना दो प्रकार की हो सकती है—सार्थक, निरर्थक। इनमें से कौन-से प्रकार की कल्पना के भाषा-बद्ध कलात्मक रूप को हम साहित्य कहेंगे? यहाँ पर फिर हमें मतभेद मिलता है। कुछ लोग कहते हैं निरुद्देश्य कल्पना साहित्य नहीं है, वह भले ही दिवःस्वप्न हो, पागल का प्रलाप हो, या मनोवैज्ञानिक के लिये एक समस्या हो। साहित्य निरर्थक नहीं होता। वे लोग कहते हैं—कल्पना

का जनहित से कोई न कोई संबंध अवश्य होना चाहिये, उसे ठाली बैठे की उधेड़ बुन नहीं होना चाहिये, जीवन से उसका कोई न कोई संबंध हो। दूसरे कहते हैं, कल्पना में सुन्दरता हो यही बहुत है, वह सुंदर रूप में प्रगट हुई तो साहित्य बन गई, उसकी उपयोगिता अनुपयोगिता से क्या हुआ। भावों के विषय में भी मतभेद है। कुछ कहते हैं—भावों को प्रगट कर देना भर साहित्य-निर्माण कर देना है चाहे वह भाव सार्थक हो या निरर्थक, श्लील हो या अश्लील। कुछ कहते हैं—नहीं, भाव श्लील हों, मन का परिष्कार करें। पाठक को नैतिकता की उच्च भूमि पर उठायें।

साहित्य और उसके उद्देश्य के संबंध में हमने ऊपर जो विश्लेषण उपस्थित किया है, उसमें सामान्यतः दो वर्गों के लोग मिलेंगे। एक जो कहते हैं साहित्य का यदि कोई उद्देश्य है तो आनन्द, लिपिबद्ध विचार; कल्पना और भावों के घात प्रतिघात जब आनंद दें तो उन्हें साहित्य कहेंगे। दूसरे वर्ग के लोग कहते हैं—"साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सचाई प्रगट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो, और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो। "वह जीवन की आलोचना हो" या "जीवन का दर्पण हो।" या कम-से-कम जीवन के प्रति एकदम गैरजिम्मेदार नहीं रहे।

रस की दृष्टि से यह ठीक है कि साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है; नीति की दृष्टि से यह भी ठीक है कि साहित्य हमारी वासनाओं और हमारे कुसंस्कारों को ही व्यक्त नहीं करे, सुंदरता के नाम पर भी नहीं। कम-से-कम वह रुचि को भी नहीं बिगाड़े; बुद्धि की दृष्टि से वह उसके (बुद्धि के) साथ व्यभिचार (या खिलवाड़) न करे, उसे भी कुछ दे। "जीवन की आलोचना"—ठीक है, परन्तु जीवन क्या

नहीं है। साहित्य में जीवन की आलोचना किस प्रकार हो, किस हद तक हो, ये मतभेद के विषय हैं। जहाँ जीवन का प्रश्न है वहाँ फिर यह प्रश्न होता है—किस समय का जीवन, क्या अतीत, क्या वर्तमान या भविष्य? और किस वर्ग का जीवन? वर्ग-विभेद के इस युग में हमारा ध्यान अमीरों और राजा-महाराजाओं और सामंतों से उतर कर साधारण खेतिहरों, मजदूरों और पेशेवरों की ओर गया है और हम इन्हीं को साहित्य का अंतिम लक्ष्य मानने चले हैं। साहित्य की जीवन की आलोचना का क्या रूप हो, यह भी निश्चित नहीं है।

निश्चित रूप से हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि साहित्य में समेट कर चलने की भावना है। यही भावना साहित्य सृजन के मूल में है। मनुष्य चिरकाल से मनुष्य-मनुष्य, जड़-चेतन, दृश्यमान जगत् और अदृश्यमान कल्पना जगत्, संस्था-संस्था, विचार-विचार और भाव-भाव में सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा करता चला आता है। इस चेष्टा के लिए विचारों, कल्पनाओं और भावों का आदान-प्रदान नितांत आवश्यक है क्योंकि इन्हीं के द्वारा संबंध जुड़ता है। अतः साहित्य के मूल में अपने को दूसरे के निकट बैठाने की भावना काम करती रही है। इस सहयोग की भावना का प्रसार साहित्य का उद्देश्य होना चाहिये।

साहित्य और समाज

साहित्य और समाज का किसी न किसी प्रकार का संबंध साहित्य के आविर्भाव काल से अब तक चला आ रहा है। ऐसा होना आवश्यक था क्योंकि साहित्यकार समाज का ही प्राणी होता है, वह समाज के व्यवहार, वातावरण, धर्म-कर्म, नीति आदि से ही अपने उपादान चुनता है। ऐसे व्यक्ति की रचना से समाज का निकट का संबंध न हो, यह कैसे हो सकता

है। आदि काव्य रामायण में बाल्मीकि ने रामकथा के रूप में एक सामाजिक व्यवस्था को ही हमारे सामने रखा है। राज्य और कुटुम्ब की अपने समय की व्यवस्था को कवि ने स्वीकार कर आदर्श रूप दे दिया है।

ऊपर हमने जो कुछ कहा है उससे साहित्य और समाज का एक ही प्रकार का सम्बन्ध प्रकट हुआ है—अर्थात् साहित्यकार समाज की व्यवस्था स्वीकार कर लेता है और उसका साहित्य अपने समय के समाज का दर्पण होता है। परन्तु एक दूसरे प्रकार का साहित्य भी है जिसका समाज से दूसरे प्रकार का सबंध है। यह साहित्य समाज की व्यवस्था की कुछ आलोचना करता है अथवा उसे एकदम अस्वीकृत कर देता है। इस साहित्य के ऊपरी उपादान चाहे बाहर समाज के ही हों, परंतु मूल में यह विद्रोही एवं क्रांतद्रष्टा होता है। जहाँ पहले वर्ग का साहित्य समाज की मान्यताओं को मान लेता है या कम से कम उसकी त्रुटियों की उपेक्षा करता है, शुतुरमुर्ग की तरह रेत में आँख मूँद कर पड़ा रहता है, वहाँ इस दूसरे प्रकार का साहित्य समाज की नीति-धर्म की मर्यादाओं के प्रति विद्रोह का झंडा खड़ा करता है। इसके रचयिता ऐसे व्यक्ति होते हैं जो समाज की कल्याण-भावना से प्रभावित होकर उसके प्रति असहिष्णु हो जाते हैं और निर्णीत धारणाओं का विरोध करते हैं। इनके साहित्य में हमें समाज का प्रतिविम्ब कम मिलेगा, उसकी आलोचना अधिक। देखा गया है कि साधारणतः इस प्रकार के साहित्य का समाज विरोध करता है, परन्तु धीरे-धीरे उसे उसके प्रकाश में नई मान्यताएँ फिर जड़ हो जाती हैं, समय से पिछड़ जाती हैं और जहाँ एक वर्ग का साहित्य उन्हें ही पकड़े रहता है वहाँ दूसरे वर्ग का साहित्य फिर आलोचना करता है। इस प्रकार इस साहित्य में और इसके समय के समाज में लगातार युद्ध

होता रहता है। उसके निर्माता उपेक्षित रहते हैं परंतु आगे के साहित्य और समाज के निर्माण की आधार-शिला उन्हीं के साहित्य पर रखी जाती है। इस प्रकार हम साहित्य और समाज का संबन्ध दो रूपों में देखते हैं—एक है समाज की स्वीकृति का साहित्य जिसमें हम समाज का प्रतिबिंब पाते हैं और जो अपने समय से संतुष्ट रहता है और उसकी वाहवाही लेकर चलता है, दूसरा है समाज की अस्वीकृति का साहित्य जो समाज की आलोचना करके उसे आगे बढ़ाता है और जिसमें हमें समाज के प्रति असंतोष और उपेक्षा के दर्शन होते हैं। पहला जड़ है, दूसरा सतत प्रगतिशील, सदैव गतिमय। यह संभव है कि जो साहित्य एक समय गतिशील जान पड़े वही भविष्य की पीढ़ियों को अत्यंत रूढ़िवादी जँचे। समाज की मान्यताएँ बदलती रहती हैं। पिछली मान्यताएँ पुरानी पड़ जाती हैं और उनका साहित्य भी। हाँ, यह अवश्य है कि इन मान्यताओं के सिवा जो अन्य चिरंतन भावनाएँ होती हैं उनका मूल्य उसी प्रकार बना रहा है और उन्हीं के कारण महान कृतियाँ किसी भी युग में पूजी जा सकती हैं।

संक्षेप में, हम पहले साहित्य को समाजगत साहित्य कह सकते हैं और दूसरे को व्यक्तिगत। दोनों को प्रेरणा समाज से ही मिलती है, परन्तु मूल्य बदल जाते हैं। समाजगत साहित्य समाज को स्वीकार ही नहीं करता, उसे उसी तरह बनाये रखना चाहता है, वह प्रतिक्रियावादी है। व्यक्तिगत साहित्य समाज में परिवर्तन चाहता है; वह क्रान्तिवादी या परिवर्तनवादी है। उसकी आँख सदैव भविष्य पर रहती है। वास्तव में प्रत्येक व्यवस्था में, चाहे वह सामाजिक हो या राजनैतिक, दो प्रकार की शक्तियाँ काम करती हैं। एक उसके स्थायित्व के लिए प्रयत्न करती है, दूसरी उसे

गतिशील देखना चाहती है। यदि पहले प्रकार का साहित्य समाज के स्थायित्व के लिए आवश्यक है तो दूसरे प्रकार का साहित्य उसकी प्रगति के लिए। तुलनात्मक दृष्टि से पहला दूसरे की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण है क्योंकि यदि प्रगति की शक्तियाँ ढीली पड़ जायें तो समाज जड़ होकर सड़ जाये और कालांतर में नाश को प्राप्त हो।

अपने यहाँ के साहित्य के उदाहरण से ये बातें स्पष्ट हो जायेंगी। भक्तिकाव्य, रीतिकाव्य और आधुनिक सुधारवादी साहित्य समाज की मान्यताओं को मानते हुए, उन्हें ग्रहण करते हुए और विंव-प्रतिविंव भाव से उन्हें अपने में धारण करते हुए चले हैं। वे अपने समय के पूरे प्रतिविंव हैं। उनमें विद्रोह नहीं, स्वीकृति है। इसी कारण उन्हें अपने समय में लोकप्रियता मिली, उनके स्रष्टा पूजे गये। संतों के काव्य ने मध्ययुग के समाज की आलोचना की, उसके स्रष्टा उपेक्षित रहे। वर्तमान समय में साहित्यकार समाज के कुछ आलोचक बन गये हैं। समाज का चित्र उपस्थित करते हुए वे उस पर गंभीर और कड़ी चोट करते हैं। धीरे-धीरे सुधारवादी दृष्टिकोण क्रांतिकारी दृष्टिकोण में परिवर्तित हो रहा है। ये उज्ज्वल भविष्य के लक्षण हैं। यह कहना कठिन है कि किस प्रकार का साहित्य अधिक उन्नत होगा। परन्तु समाज की स्वीकृति वाले साहित्य को रूढ़िगत भावनाओं, साहित्यिक परम्पराओं आदि का सहारा है, अतः उसे प्रौढ़ता के लिए लड़ना नहीं पड़ता। संघर्षमय प्रगतिशील साहित्य को इस प्रकार की रूढ़ियों का सहारा नहीं मिलता। जो हो, समाज के न्याय की दृष्टि से दूसरा ही अधिक उपादेय है, चाहे उसमें कला के उतने अच्छे दर्शन न हों जितने पिछले साहित्य में।

साहित्य समाज का दर्पण अवश्य है। परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप में

उसमें समाज का हृदय बोलता है। कवि समाज का ही व्यक्ति है। उसका साहित्य मनुष्यों से सम्बंधित होगा, अतः उसमें समाज के चित्र होंगे, समाज के सम्बन्ध में विचार होंगे। ये चित्र और विचार बहुत कुछ उस समाज के ही प्रतिबिंब होंगे जिसमें कवि ने जन्म लिया है, जिसने उसके विचारों का निर्माण एवं संस्कार किया है, जिसके वातावरण में वह लिख रहा है। कालिदास विलास-वैभव के युग में रह रहे थे। उन्होंने शिव-पार्वती के नग्न-शृङ्गार का वर्णन किया है। उनके काव्य में गुप्तकाल की राज्य-लक्ष्मी का विलास-वैभव छलक रहा है। स्त्रियों की पराधीनता और राजनैतिक उदासीनता के युग में तुलसीदास कहते हैं—

ढोल गँवार शूद्र पशु नारी,
ये सब ताड़न के अधिकारी।
कोउ नृप होउ हमैं का हानी,
चेरी छाँड़ि न होवउँ रानी।

हरिश्चंद्र के साहित्य में सामाजिक क्रांति के चित्र स्पष्ट हैं। यदि साहित्यकार एकदम अध्यात्म नहीं लिखता, यदि वर्डसवर्थ के 'स्काई लाक' (लवा पक्षी) की तरह उसके गीतों का पार्थिक आधार भी है, तो निःसन्देह चाहे वह विरोध ही क्यों न कर रहा हो, उसके साहित्य में उसके समय का समाज, उसकी विशेषताएँ, उसकी चिंतन-धाराएं स्थान पायेंगी।

साहित्य और आचार

साहित्य आचारशास्त्र, धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र नहीं है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं, परन्तु फिर भी साहित्य और आचार में कोई संबंध हो सकता है। साहित्यकारों का एक वर्ग अपने को किसी भी बंधन में बाँधना नहीं चाहता। वह कहता है—उच्छृङ्खलता और विद्रोह ही साहित्य को

प्रगतिशील बनाते हैं। साहित्य पर समाज और उसके आचार-विचार का नियंत्रण अवांच्छनीय है।

यों देखने में बात बुरी नहीं लगती। कवि द्रष्टा है। कवि ऋषि है। कवि मनीषी परिभूः स्वयंभू। उसे किसी बन्धन में मत बाँधो। बात अच्छी है और सीधी है। परन्तु तब हम देखते हैं कि इस वर्ग की याचना के मूल में भोगलिप्सा है, इंद्रिय-जनित आनन्द की प्रेरणा है अथवा और कुछ न हो नियमोल्लंघन का उल्लास ही है। क्या ये अच्छी बातें हैं? क्या इन कवियों और साहित्य स्रष्टाओं को आचारशास्त्र से मुक्ति इसीलिए चाहिये कि ये पशुवत नग्न नृत्य कर सकें और अपनी नग्नता को काव्य का विषय बनायें?

हम यह जानते हैं कि स्वस्थ मनुष्य और विकृत मनुष्य में अंतर है। हमारे साहित्यकार पुराकाव्य और पुरावस्तुकला (मूर्तिकला) की दुहाई देकर कहते हैं—यह लो, हमारे पुरातन मनीषियों ने देह को जो स्थान दिया है, वह हम क्यों नहीं दें। वे हमारे सामने अजन्ता की नग्न मूर्तियाँ रखते हैं, पुराण रखते हैं, कालिदास का साहित्य रखते हैं। हम क्या गए गुज़रे हैं? परन्तु वे यह नहीं जानते कि हमारे पूर्वज अति-काम से ग्रसित नहीं थे, उन्होंने अन्न, जल, वायु की तरह काम को भी स्वाभाविक समझा ही नहीं, हृदय से माना भी था। उन्होंने काम को प्रधानता नहीं दी थी जैसा अर्वाचीन देना चाहते हैं। और उन्होंने देह के ऊपर आत्मा को भी स्थान दिया है जो बात अर्वाचीन भूल जाते हैं। वास्तव में हमारे और प्राचीनों के मूल भाव में भेद है। प्राचीन साहित्य में जो अश्लील कहा जाता है, उसमें और उस अश्लीलता में मौलिक भेद है जिसे नूतन साहित्य मनीषी रंगमंच पर देखना चाहते

हैं। अश्लीलता का अर्थ तो एक ही है—नर-नारी के यौन-व्यापार का स्पष्ट उल्लेख। परन्तु भेद दृष्टिकोण का है। आधुनिक कवि देह-आत्मा में विरोध देखता है। प्राचीन कवि देह को स्वीकार करता है और आत्मा को भी उतना ही महत्व देता है। देह-आत्मा मिलकर उस चरम सत्य की उपलब्धि करें—यह है उद्देश्य। आज का कवि देह से चिमट कर रह जाता है। उसके लिये देह साधन नहीं, साध्य है। प्राचीन काव्य-शास्त्रियों ने स्त्री-पुरुष के प्रेम-सम्बन्ध को आदि रस (शृङ्गार) बना दिया है। आधुनिक कवि जिसे प्रच्छन्न रखेगा, संस्कृत भाषा में एक विशिष्ट परिपाटी का पालन करता हुआ प्राचीन कवि उसे भी कह जायगा। यही नहीं, वह उसे रस-सिद्ध करेगा। 'अश्लीलता' और 'ग्राम्यता' अलंकारिक दोष अवश्य मानते थे, परन्तु ये दोष भाषागत दोष हैं। आज अस्पष्टता और प्रच्छन्नता या व्यंजना का आश्रय लेकर नूतन कवि स्त्री-पुरुष के संबंध में नग्न-चित्र उपस्थित करेगा और उन्हें श्लील कहेगा, प्राचीनों के स्पष्ट और पापबोध-रहित जीवनधर्मी-काव्य को अश्लील कहकर उसकी खिल्ली उड़ायेगा।

बात तो यह है कि आधुनिक साहित्य का लक्ष्य प्रेम अथवा शृङ्गार है ही नहीं, लालसा है। देह-संबंधी मानसिक उत्कंठा है। देह के प्रत्यक्ष परिचय से दूर रह कर आज का साहित्यकार तीव्र इंद्रियानुभूति का आस्वादन करना चाहता है। देह के सम्बन्ध में हम कुछ हद से अधिक सचेतन हैं, इस प्रकार प्राचीनों पर आक्षेप करते हुए भी हम आचार-मुक्त होना चाहते हैं। अधिकांश में तो हम वाक्य-भंगिमा में अथवा रूपक में अपनी लालसा प्रच्छन्न करते हैं या मनोविज्ञान का

सहारा लेकर देह के कम्पन-सिहरन, स्पंदन-स्तंभन आदि का ऐसा सूक्ष्म बखान करना चाहते हैं जो प्राचीनों का ध्येय हो ही नहीं सकता था। हमने साहित्यकला को विलासकला बना दिया है।

परन्तु इतना सब होने पर भी आज का साहित्य-स्रष्टा कहता है—साहित्य नीति-निरपेक्ष है; अतः वह आचार को मानने को बाध्य नहीं है।

कदाचित् यह वस्तुस्थिति के प्रति विरोध का कोई रूप हो परन्तु इस विरोध में बल नहीं। श्रेष्ठ काव्य नीति का ऋणी है। वह विद्रोह-मूलक होगा तो विद्रोह के मूल में नीति-भावना रहेगी। कवि सत्य का झंडा लेकर खड़ा होगा, युग-संचित शैवाल-जाल को शाश्वत जीवन-तत्त्वों के ऊपर से हटाने के लिए उद्बुद्ध होगा। जो साहित्य की 'नीति' है शाश्वत नीति, लोकमंगल, उसी की प्रतिष्ठा करना साहित्यकार का आदर्श है। आत्म-विलास के लिए सामाजिक मर्यादा के प्रति जो विद्रोह होगा वह अनैतिक और असंग्रहणीय होगा।

साहित्य और शैली

अँग्रेज़ी में जिस परिभाषा में "Style" शब्द का प्रयोग होता है, लगभग उसी परिभाषा में हिन्दी में "शैली" शब्द का प्रयोग हो रहा है। 'उसकी भाषा शैली सुन्दर है', 'उसकी शैली चमत्कारक है', 'द्विवेदीजी की शैली', 'हरिश्चंदी भाषा'—इस प्रकार के कितने ही वाक्य प्रतिदिन प्रयोग में आते हैं। अतः यह जानना उपादेय है कि शैली वास्तव में क्या है और साहित्य में उसका क्या स्थान है।

शैली की कई परिभाषाएँ चल रही हैं—"Personal idiosyn-

crasy of expression", "a complete fusion of the personal and the universal," " a projection of author's personality ", "style is the man himself." इस तरह की कितनी ही परिभाषाएँ और भी हैं। किसी भी परिभाषा में शैली कहीं पूरी-पूरी नहीं बँधती।

साहित्य मनुष्य के मन और हृदय की अभिव्यक्ति है। मन का क्षेत्र है चिंता, हृदय का क्षेत्र है अनुभूति। अतः साहित्य में क्रमानुगत तर्कशील विचार भी रहते हैं और भाव-प्रधान अनुभूति भी। इस प्रकार साहित्य के दो भेद हो जाते हैं—चिंताधर्मी साहित्य और अनुभूतिधर्मी साहित्य। हमें यह देखना है कि इन दोनों का शैली से क्या सम्बन्ध है ?

चिंता धर्मी साहित्य में शैली का अर्थ है—"the power of lucid expression of a sequence of ideas." यहाँ पर लेखक को अपनी चिंतावस्तु को प्रस्फुटित रूप में रख देना भर होता है। उसे व्यक्तिगत वैशिष्ट्य प्रदान करने को आवश्यकता नहीं। लेखक की साधना यही होगी कि वह विषय को सुस्पष्ट भाषा में युक्तियुक्त बनाकर काग़ज पर उतार दे। यहाँ हमें भाषा सुस्पष्ट, मार्जित, संस्कृत रूप में मिले, इससे अधिक हमें कुछ भी नहीं चाहिये। यदि लेखक इस प्रकार की शैली में भी विशेषत्व लाना चाहेगा तो उसका रूप Idio-syncrasy of Expression या "रीति" होगा।

परन्तु साहित्य का दूसरा पक्ष अधिक महत्वपूर्ण है। वास्तव में, उपन्यास, कविता, नाटक, गद्यकाव्य, सभी अनुभूति-धर्मी हैं। यहाँ चिंतन प्रधान नहीं है, भाव प्रधान है। इनमें लेखक की भावना, कल्पना, अपरोक्ष अनुभूति, अंतर्दृष्टि शब्दों से इस प्रकार मिलकर उपस्थित

होती है कि हम दोनों को अलग-अलग नहीं कर सकते। हम यह नहीं कह सकते—"यह रही वस्तु, यह रही भाषा।" इस जाति की रचना में भाव ही भाषा का रूप ग्रहण कर लेता है। पहली जाति के चिंताधर्मी साहित्य में भाव-भाषा में अर्थ-संबंध होता है, यहाँ मूर्ति-सम्बन्ध। अनुभूति-धर्मी साहित्य में जिस भाषा का प्रयोग होता है, वह मस्तिष्क-परिचालित भाषा या मानसिक क्रिया नहीं है। प्राञ्जलता और दुर्बोधता उसके गुण-दोष नहीं हैं। वह शब्दार्थ की सहकारिता से अशरीरी भाव को शरीरी बनाकर पाठक के मन तक पहुँचाती है—यही उसकी सार्थकता है। भाववैशिष्ट्य के साथ रूपवैशिष्ट्य चलता है। यहाँ भाषा भाव से अलग नहीं है, दोनों का पूर्णातिपूर्ण सहयोग ही चरमावस्था है। "सत्य" को प्रगट करने के लिये जितनी भाषा की आवश्यकता पड़ती है, "सुन्दर" को प्रगट करने के लिए उससे अधिक की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ हमें शैली का व्यक्तिगत प्रयोग मिलेगा परन्तु वह कितना भाव प्रगट करने की आवश्यकता से अस्तित्व में आया है, कितना व्यक्ति-वैशिष्ट्य के कारण, यह कहना कठिन होगा।

परन्तु शैली का एक तीसरा रूप भी है जहाँ भाव प्रधान होता है, भाषा भाव के पीछे चलती है। कहीं-कहीं भाव की तिर्यक गति में भाषा हास्यास्पद भी जान पड़ती है। गंभीरतम अनुभूति के प्रकाशन के प्रयास में साधारण भाषा असाधारण रूप में प्रयुक्त होती है। अनुभूति तब भाषा से बाहर फूट पड़ती है और तब उसके शब्दार्थ और भावार्थ बहुत पीछे रह जाते हैं। इस दशा में भी उसमें वैशिष्ट्य रह सकता है परन्तु साथ ही सर्वगुण निर्पेक्षता का गुण भी रहेगा। वास्तव में, वाक्य

विशेष के भीतर निर्विशेष व्यंजना परिस्फुट हो जाती है। हम उदाहरण देकर अपनी बात प्रगट करेंगे—

"रस-संचार से आगे बढ़कर हम काव्य की उस उच्च मनोभूमि में पहुँचते हैं जहाँ मनोविकार अपने-अपने शारीरिक रूप में ही न दिखाई देकर जीवन-व्यापी रूप में दिखाई पड़ते हैं। इसी स्थायित्व की प्रतिष्ठा द्वारा शील-निरूपण और पात्रों का चरित्र-चित्रण होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस उच्च भूमि पर 'फुटकरिए' कवि पीछे छूट जाते हैं; केवल प्रबन्ध-कुशल कवि ही दिखाई पड़ते हैं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि गोस्वामी जी को छोड़कर हिंदी का और कोई पुराना कवि इस क्षेत्र में नहीं दिखाई देता।"

यह चिंताधर्मी साहित्य की साधारण शैली है।

"सात समुद्र पार कर इंगलैंड वाले यहाँ आते हैं और न जाने कितना परिश्रम करके और खर्च उठाकर यहाँ की भाषाएँ सीखते हैं। फिर अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथ लिख कर ज्ञानवृद्धि करते हैं। उन्हीं के ग्रंथों को पाकर हम लोग अपनी भाषा और अपने साहित्य के तत्वज्ञानी बनते हैं। खुद कुछ कर नहीं सकते। सिर्फ़ व्यर्थ कालातिप्रात करते हैं। अँग्रेज़ी लिखने की योग्यता का प्रदर्शन करते हैं। घर में घोर अंधकार है, उसे तो दूर नहीं करते; विदेश में, जहाँ गैस और बिजली की रोशनी हो रही है, चिराग़ जलाने दौड़ते हैं।

यह उसी जाति की वैशिष्ट्य-प्रधान शैली है। लेखक की वाक्य-भंगिमा आदि व्यक्तिगत हैं। इस वैशिष्ट्य-प्रधान चिंताधर्मी शैली के व्यक्ति के अनुसार अनेक भेद हो जाते हैं। दोनों प्रकार की शैलियाँ (Objective) हैं परंतु दूसरे प्रकार की शैली में साथ ही कौशल

(रीति) का भी प्रयोग है। इस प्रकार की शैलियों में लेखक का ध्येय रहता है भाषा की विशुद्धता और रीति-सौष्ठव का प्रदर्शन।

दूसरे प्रकार की शैली के कुछ उदाहरण होंगे—

१—"कौन कहता है तुम अकेले हो! समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जाग्रत करो! यदि भविष्यत् से डरते हो कि तुम्हारा पतन ही समीप है, तो तुम उस अनिवार्य स्रोत से लड़ जाओ! तुम्हारे प्रचंड और विश्वास-पूर्ण पदाघात से विंध्य के समान कोई शैल उठ खड़ा होगा, जो उस विघ्न स्रोत को लौटा देगा। राम और कृष्ण के समान क्या तुम अवतार नहीं हो सकते?—समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर के कर्म समझ कर करता है, वही ईश्वर का अवतार है। उसमें पुरुषार्थ का समुद्र पूर्ण हो जाता है।

२—"रोज़ की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हूँ, दुनिया भी देखती है। सायंकाल अस्ताचल की छाती पर पतित मूर्च्छित दिनमणि कैसा अप्रसन्न, कैसा निर्जीव रहता है। वह गुलाबी लड़कपन नहीं, वह चमकती-दमकती गरम जवानी नहीं, वह ढलता हुआ कम्पित करों वाला बुढ़ापा भी नहीं। श्री नहीं, तेज नहीं, ताप नहीं। शक्ति नहीं। उस समय सूर्य को उसकी दिन भर की घोर तपस्या, रसदान, प्रकाशदान का क्या मूल्य मिलता है। सर्वनाश, पतन, उस पार क्षितिज के चरणों के निकट, समुद्र की हाहामयी तरंगों के पास—पतित सूर्य की चिता जलती है। प्राची की अभागी बहिन पश्चिमा 'आग' लगाती है। दिशाएँ व्यथित रहती हैं, खून के आँसू बहाती हैं।"

३—'आपको अपने सामने कठिनाइयों की फौजें खड़ी नजर आयेंगी। बहुत सम्भव है आपको उपेक्षा का शिकार बनना पड़े। लोग

आपको सनकी और पागल कह सकते हैं। कहने दीजिये। अगर आपका संकल्प सत्य है, तो आपमें से हरेक एक-एक सेना का नायक हो जायगा। आपका जीवन ऐसा होना चाहिये कि लोगों को आपमें विश्वास और श्रद्धा हो। आप अपनी बिजली से दूसरों में भी बिजली भर दें। हर एक पंथ की विजय उसके प्रचारकों के आदर्श जीवन पर निर्भर होती है। अयोग्य व्यक्तियों के हाथ में अच्छा से अच्छा उद्देश्य भी निंद्य हो सकता है। मुझे विश्वास है, आप अपने को अयोग्य न बनने देंगे।"

इन उदाहरणों में भाव का स्वच्छंद और सुसंगत प्रकाश भाषा के माध्यम से फूट कर पाठक को लोकोत्तर आनन्द या रस की अनुभूति कराता है या वातावरण की सृष्टि करता है। प्रयास की विशिष्टता के कारण भावों के अनुरूप भाषा-भंगिमा अनिवार्य हो उठती है। लेखक भाव को अतिशय नूतन, असाधारण और अपूर्वकल्पित रूप में ग्रहण करता है, अतः उसकी भाषा भी नूतन, असाधारण और अपूर्वकल्पित हो जाती है। मनः-धर्मी साहित्य की अपेक्षा इस हृदय-धर्मी साहित्य में व्यक्तिगत शैलियों की विभिन्नता के लिये अधिक स्थान है। यहाँ "वस्तु" का अध्ययन इतना आवश्यक नहीं, जितना "भाव" का।

तीसरी प्रकार की कविता का एक कविताबद्ध उदाहरण इस प्रकार है—

किसने मरोड़ डाला बादल
जो सजा हुआ था सजल वीर !
केवल पल भर में दिया हाय,
किसने विद्युत् का हृदय चीर !

इतना विस्तृत होने पर भी
क्यों रोता है नभ का शरीर !
वह कौन व्यथा जिसके कारण
सिसका करता नभ में समीर !

हम देखते हैं कि तीनों प्रकार की शैलियों में व्यक्तिगत चेष्टा है। कारण भिन्न-भिन्न हैं—

एक, भाषा को लेकर कलाप्रदर्शन की अभिलाषा या पांडित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति (रीति)।

दो, अतिशय मौलिक प्रेरणा के वशीभूत होकर लेखक अनन्य साधारण अनुभूति को उसी रूप में प्रगट करना चाहता है जिस रूप में उसने उसे ग्रहण किया है, अतः भाषा-भंगिमा अनिवार्य है।

तीन, लेखक भाव को अधिक प्रधानता देना चाहता है, अतः वह बहुत कुछ अनुभूतिवश, कुछ रीतिवश, भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग अथवा अत्यन्त असमान्य प्रयोग करता है जो अनुभूति पर से दृष्टि हटा लेने पर हास्यास्पद होगा। यहाँ भाषा प्रतीक बन जाती है।

पूर्व के साहित्य में दूसरे प्रकार की शैलियों की प्रधानता है। हमारे कवियों और गद्यकारों की यही चेष्टा रही है कि भाव को पूर्णतः भाषाबद्ध कर दें, अतः शब्द-योजना, नाद-सौन्दर्य और शब्दार्थ-व्यंजना को अत्यंत महत्व मिला है। भाव की स्वतः कोई भाषा नहीं। साहित्यकार भाषा-द्वारा भाव से उसी रूप में पाठक को संक्रमित करना चाहता है जिस रूप में उसने उसका अनुभव किया है—एक भाव या भावावस्था, एक अनुभूत चित्र—किसी एक सुनिर्दिष्ट अर्थ-समन्वित तत्त्व को पाठक के सामने रखना उसे नहीं है। उसकी अनुभूत वस्तु निर्विशेष

है, साधारण है, परन्तु उसे ठीक भाव का चित्र देना है, यही चेष्टा उसी रचना को विशेषत्व प्रदान करती है। वास्तव में शैली क्या होगी, यह उसकी अनुभूति की तत्परता और तीव्रता पर अवलम्बित है। दूसरे, भावोद्रेक के अनेक कारण हैं। बाहर की वस्तु, घटना, दृश्य—ये एक प्रकार की अनुभूतिमयी चित्रशैली की प्रतिष्ठा करेंगे। भीतर की वस्तु, चिंतानुभूति, रहस्यानुभूति, भवानुभूति—इनकी प्रेरणा से शैली के दूसरे ही प्रकारों का जन्म होगा। यही नहीं, अनुभूति रूप को कितना अधिक सहारा देती है, कितना कम, इस हिसाब से शैलियों के कितने ही रूप हो जायेंगे।

संक्षेप में, शैली की समस्या अत्यन्त जटिल है। मनुष्य के व्यक्तित्व की भाँति उसके प्रकाश के भी अनेक मुख हैं। यह सब समझकर हमें शैली को साहित्य में सर्वोच्च स्थान देना होगा। साहित्य का लक्ष्य है भावानुभूति। भावानुभूति का रूप है शैली। अतः शैली साहित्य की गौण समस्या नहीं, मुख्य समस्या है।

जीवन, सौन्दर्य और साहित्य

सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कॉट ने कहा है—"सौन्दर्य वह है जो साधारणतया तर्क और व्यावहारिक उपयोगिता के बिना हमें आनन्द दे सके···" (Beauty is in its subjective meaning that which in general and necessarily without reasoning and without practical advantages pleases and in its objective meaning it is the form of an object suitable for its purpose in so far that object is perceived without any conception of its utility—Kaut).

सौन्दर्य क्या है ? युगों से मनुष्य वस्तुओं में एक तत्त्व को मानता चला आया है, जिसे उसने सौन्दर्य-तत्त्व का नाम दे रखा है। अनजाने ही उसने एक सौन्दर्य-शास्त्र का निर्माण किया है और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में मनुष्य की सौन्दर्य-प्रवृत्ति में भिन्नता होने पर भी जो एकात्मता बीज-भावनाओं में रही, वही एकता उनके सौन्दर्य के दृष्टिकोण में है। प्राचीन आर्य-मनीषियों ने सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के कला-सूत्र में सौन्दर्य तत्त्व को पर्याप्त स्थान दिया है और उसे रस की दृष्टि का कारण माना है। परन्तु स्वयं सौन्दर्य क्या है ? किन पदार्थों से उसकी सृष्टि हुई है और क्या वह प्रकृति का बीज-तत्व है ? इसकी व्याख्या करने की चेष्टा कम ही हुई है।

हम कितनी ही वस्तुओं को सुन्दर कहते हैं। गुलाब सुन्दर है, बच्चा सुन्दर है, रामायण की कथा सुन्दर है और किसी ने अपने प्राण संकट में डाल कर दूसरे की रक्षा की तो उसका यह कर्म सुन्दर है। इन सबके पीछे तत्त्व क्या है और क्या ये सब सौन्दर्य के एक ही प्रकार हैं अथवा इनमें गुणों की अथवा परिमाण (Degrees) की भिन्नता है ? पहले हम गुलाब को लेते हैं। गुलाब में पंखुड़ियाँ हैं, जो एक क्रम से लगी हुई हैं ; नीचे हर पत्ते (Calyse) हैं। वह एक डंठल पर हवा में झूलता है और उस डंठल का अन्य डंठलों और फूल-पत्तों से सम्बन्ध है। इन सब में सुन्दरता नाम की चीज़ यहाँ है ?—अकेली पंखुड़ियों में नहीं, पत्तियों में नहीं, डंठल में नहीं। पंखुड़ियों और पत्तों के सम्बन्ध को हम देखें तो बार-बार आवृत्ति मिलती है। इसे हम क्रम कहते हैं और किसी सीमा तक यह हमारे मनोरंजन का विषय होता है। परन्तु जो चीज़ हमें गुलाब में सुन्दर लगती है, वह उसकी पूर्णता है। क्रमिक सम्बन्ध से वह कुछ

अलग है और अधिक है। यह बात इस तरह भी प्रकट होगी कि यदि हम गुलाब को डंठल तोड़कर अथवा पत्तों से अलग रखकर देखते हैं तो उसमें इतना सौन्दर्य नहीं दिखता, जितना उस समय जब वह वृन्त पर फूलता है। अर्थ यह हुआ कि गुलाब की पूर्णता हमें आकर्षित करती है, हमारी आत्मा की पूर्णता को जगाती है और जब हमारी आत्मा फूल की पूर्णता को पहचान लेती है तब वह हमारे लिए सुन्दर हो जाता है।

ठोस तत्त्वों से वस्तुओं के सम्बन्ध में हम इस नतीजे पर आसानी से पहुँच सकते हैं। उन वस्तुओं के भिन्न-भिन्न भागों में जो सौष्ठव, मेल अथवा सम्बन्ध है, वह एक बाहर के—'सुन्दर' नाम के—गुण की सृष्टि करता है। यह गुण उस वस्तु के दूसरे गुण से, जिसे हम उपयोगिता कहते हैं, किसी भी प्रकार सम्बन्धित नहीं। साहित्य और कलायें अपनी उन्नत दशा में उपयोगिता की नितान्त उपेक्षा करती हैं।

परन्तु सौन्दर्य की वस्तु—पदार्थ से अलग अपनी स्वयं उपयोगिता है। वह हमारी आत्मा के एकात्म-तत्त्व को उत्तेजित करता है, उसको जड़ता से निकाल कर गतिमय करता है। इस गति में एक विशेष प्रकार का आनन्द है, जिसे हमें सौन्दर्यानन्द (Aesthetic pleasure) कहते हैं। क्या साहित्य की यह उपयोगिता कम है कि वह हमारे सौन्दर्य-तत्त्व को जगा कर हमें क्षण भर के लिये चैतन्य कर देता है? हम कला-वस्तु से अपना सम्बन्ध जोड़ने के लिए तत्पर हो जाते हैं।

अलबत्ता, ठोस तत्त्वों की सुन्दरता से मिले हुए आनन्द में और महान एवं सूक्ष्म तत्त्वों की सुन्दरता के आनन्द में विभिन्नता है। सूक्ष्मतत्त्व एक तो प्राकृतिक होते हैं—प्रातः, सायं, बन, झरने, दूसरे

मनोभाव अथवा कार्य। स्थूल तत्त्वों से पहले प्रकार का सूक्ष्म तत्त्व उन्नत है और पहले से दूसरे प्रकार का। प्रकृति-सौन्दर्य और कार्य-सौन्दर्य का अनुभव करने के लिए ऊँची संस्कृति की इसीलिए आवश्यकता है कि उनके तत्त्व सूक्ष्म हैं और बाह्य इंद्रियों द्वारा उनकी अनुभूति पूर्णतया नहीं होती। उनका पूरा-पूरा अनुभव करने के लिए मन और बुद्धि का मेल आवश्यक है एवं मन और बुद्धि जितने विकसित होंगे, उतनी ही पूरी और गहरी प्रकृति—और भाव—अथवा कार्य-सौंदर्य की अनुभूति होगी।। इस प्रकार हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं से उपलब्ध सौन्दर्यज्ञान एक-सा नहीं होता। विभिन्न वस्तुओं का सौन्दर्य भी एक-सा नहीं रहता, परन्तु बीजतत्त्व—एकात्मता अथवा सुन्दर वस्तु के अंगों की पूर्णता—सभी में एक रूप से समान है। स्थूल वस्तुओं के सौन्दर्य-सुख से सूक्ष्म वस्तुओं और मनोभावों से प्राप्त सुख ऊँची श्रेणी का है।

स्वयं आनन्द के कई प्रभेद किये गये हैं—
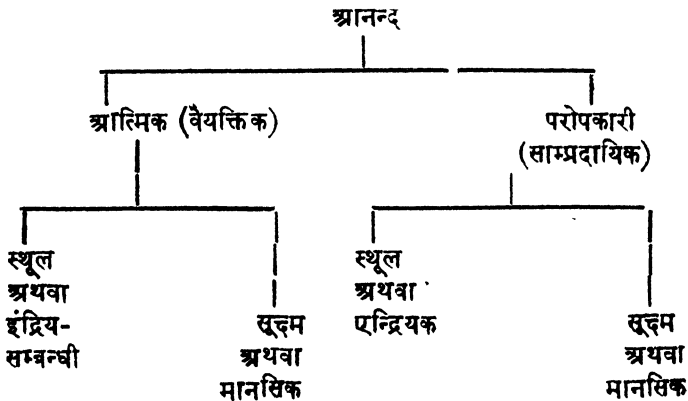
'बहुजनहिताय' कहकर प्राच्य और पाश्चात्य मनीषियों और दार्शनिकों ने साम्प्रदायिक मानसिक आनन्द को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। गुलाब-जैसी स्थूल वस्तुओं का आनन्द ऐंद्रियक है और भावों और कार्यों का आनन्द सूक्ष्म अथवा मानसिक। अतएव वह उच्चकोटि का आनन्द है। यही कारण है कि गीतिकवि (Lyric Poet) से महाकवि अथवा खंडकाव्य प्रणेता (Epic Poet) बड़ा है, क्योंकि वह स्थूल इंद्रियों की नहीं, वरन् भावों और विचारों के सूक्ष्म तत्त्वों की अपील करता है। वह पाप और पुण्य, सत् और असत्य के मापदंड पर मनुष्यों के कार्यों की विवेचना करता है और उसका कविता का सौन्दर्य मनुष्य की कार्य-बुद्धि को उत्तेजित करता है।

सृष्टि के आदिकाल से मनुष्य ने सौन्दर्य से आनन्द प्राप्त करने की स्वतः प्रेरणा पाई है। वह प्रतिदिन के जड़ उपयोगितावाद से आगे बढ़कर चला है, इसीलिए वह उस आनन्द की अनुभूति में जाकर रुका है, जो सुन्दर वस्तुओं और फिर सुन्दर कार्यों से प्राप्त होता है। प्राचीन-काल (Prehistoric ages) के मनुष्यों ने गुफ़ाओं की प्राचीरों और शिलाखंडों पर तीर की नोकों से जो चित्र खींचे हैं अथवा बाद के मनुष्यों ने अपने घरों, काम के बरतनों और युद्ध के अस्त्र-शस्त्रों पर जो सौंदर्य प्रतिष्ठित किया है, वह मनुष्य की सौंदर्योपासक दृष्टि का प्रमाण है। वस्तु को मन के अनुसार सुन्दर बनाकर, उसे अपने हृदय का रस देकर उसने उसे अपने अधिक समीप कर लिया है और उसकी जड़ता और भीषणता बाहर निकाल फेंकी है। आज भी कला, साहित्य, चित्र और संगीत के स्पर्श से मनुष्य जड़ता के उस भार को आलोक की तरह हलका करके अपने ऊपर ओढ़े है।

हम कह चुके हैं कि सौन्दर्य उस एकात्म अथवा पूर्णता का नाम है, जिसका अनुभव वस्तुओं में करने पर मनुष्य उन वस्तुओं को 'सुन्दर' की पदवी दे डालता है। वह एकात्म अथवा पूर्णता वस्तुओं में तो है ही, परन्तु वह हमें उसी समय ज्ञात होती है, जब हम उसे ग्रहण करने के लिए तैयार होते हैं। कोई भी वस्तु हमारे लिए सत्य तभी होती है, जब हम उस वस्तु के सम्मुख हो जाते हैं; नहीं तो वह उपेक्षित है, जैसे हमारे लिए है ही नहीं। जब हम प्रयत्न करने पर अथवा संस्कारों के वशीभूत होकर किसी वस्तु के अंगों और उसके चारों ओर की वस्तुओं में एकात्म आंशिक सम्बन्ध अथवा पूर्णता खोज लेते हैं, तब वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर बन जाती है और हमारी धारणा उसकी सुन्दरता को स्वीकार कर लेती है और जब बदले हुए मूल्यों के आधार पर हम वस्तु की उस एकात्मकता को खो देते हैं, तब वह वस्तु कुरूप और हमारी चेतना को अस्वीकृत हो जाती है। यह विश्व परिवर्तन-शील है। इसीलिए बदली हुई परिस्थिति के अनुसार वस्तुओं के मूल्य बदलते रहते हैं। जो कल असुन्दर था, आज सुन्दर माना जाता है और आज का सौन्दर्य कल असुन्दर होगा। बात बहुत हद तक वातावरण और दृष्टिकोण की है। संस्कृतियों के संघर्ष, नवीन विचार, आविष्कार और आवश्यकताएँ नित्यप्रति हमारे वातावरण और दृष्टिकोण को बदल रहे हैं। इसीलिये आज कल-कारखानों और दलदलों ने हमारे लिए सौन्दर्य प्राप्त कर लिया है और शुद्ध शृङ्गार के प्रति हमारे कवियों और लेखकों को विमुखता हो रही है। बात तो यह है कि 'कालिदास' की शकुन्तला भी उतनी ही सुन्दर है जितनी गोर्की की 'माँ', परन्तु दोनों को देखने के लिए हमें दो भिन्न स्थानों पर बैठना होगा।

सौन्दर्य वस्तुओं अथवा वस्तु विशेष के संघर्षों (कार्यों) के द्वारा प्राप्त होता है और ये वस्तुएँ जीवन के अंदर आ जाती हैं। 'सुन्दर' को हम जीवन के द्वारा ही अथवा जीवन में ही प्राप्त कर सकते हैं ; यही जीवन और सौन्दर्य का सम्बन्ध है। वास्तव में जीवन सब सुन्दर है, केवल हमें एक विशेष दृष्टिकोण रख कर देखना है। विशेष दृष्टिकोण ही नहीं, विशेष महानुभूति चाहिये, जिसके द्वारा हम असुन्दर में सुन्दर के दर्शन कर सकें।

शताब्दियों तक मनुष्य की विचारधारा एक विशेष ढंग की रही है। उसे हम पूँजीवादी विचारधारा कह सकते हैं, इसलिये कि वह पूँजीवादी अथवा राजप्रथावादी (सामन्तवादी) परिस्थितियों का फल थी। जीवन के अधिकांश को आँख की ओट रखकर कल्पना और अतिरंजन-शीलता के सहारे साहित्य और कला की सृष्टि होती रही है। हम यह किसी हेय भाव से नहीं कहते। केवल इसलिए कि हम विश्लेषण कर रहे हैं। अब हज़ारों वर्षों बाद मूल्य बदल रहे हैं। नये प्रकार के साहित्य की रूपरेखायें तैयार हो रही हैं। वस्तुवाद (Realism) को प्राधान्य मिल रहा है। 'जीवन में असुन्दर कुछ भी नहीं है'—इसी एक विचार को लेकर हम निकल चुके हैं। फल यह है कि हमारे साहित्यकार और कलाकार जहाँ कभी नहीं पहुँचे, आज पहुँच रहे हैं। जीवन में निम्न कहे जाने वाले पहलुओं पर 'टार्च' फेंककर हमने उन्हें अपने लिये वास्तव और सुन्दर कर लिया है।

तब जीवन, सौन्दर्य और साहित्य का सम्बन्ध क्या रहेगा ? यही, कि जीवन में जो भी सुन्दर है, साहित्य उसकी अभिव्यक्ति है। जीवन में सुन्दर क्या नहीं है ?—सभी सुन्दर है। अतः जीवन की सुन्दर अभिव्यक्ति

ही साहित्य है। जीवन में जो महान और मानवीय वस्तु है, वह मनुष्य के कार्य हैं। इसलिए साहित्यकार का काम मनुष्य के कार्यों की सौंदर्यमय अभिव्यक्ति है। ऊपर कह आये हैं कि मनुष्य के कार्य हमारी महा-गाथाओं (Epic Poetry) के विषय रहे हैं। महाकाव्य की विशेषता यही है कि उसमें विशाल क्षेत्र लेकर मनुष्य के संघर्षों का चित्रण किया जाता है। आज यह क्षेत्र हमारे गद्य ने अपना लिया है। गोर्की की 'माँ', दोस्तोवस्की की 'Crime and Punishment', शरच्चन्द्र का 'गृहदाह' और प्रेमचन्द का 'गोदान' आज के गद्यमय महाकाव्य हैं। ये मनुष्य की आत्मा की सबसे ऊँची उड़ानें हैं।

संभव है, व्यक्ति विशेष इस विचार-शृङ्खला से सहमत न हों। कुछ साहित्यकारों का कहना है कि पूर्णता सब स्थानों में एक ही है। मेरा गुलाब, उनकी गीति-कविता और बाल्मीकि का महाकाव्य यदि पूर्ण सौन्दर्य की अपनी-अपनी सीमा में सफल अभिव्यक्ति कर लेते हैं तो तीनों के मूल्य में कोई अंतर नहीं। परन्तु मैं यह नहीं मानता। रामायण का कार्य-सौंदर्य उनकी स्फुट कविता से शतशः और मेरे गुलाब से सहस्रशः अधिक सुन्दर है, इसलिए कि तीनों वस्तुएँ आनंद की तीन विभिन्न श्रेणियों को उत्तेजित करती हैं और तीनों का आनंद एक दरजे का नहीं। रवि ठाकुर जब उर्वशी को संबोधित कर कहते हैं—

विकसित विश्व वासनार अरविंद मांझखाने
रखिछिलो पाद-पद्म तोमार अतिलघुभार
हे अनंत रंगिनी, स्वप्न संगिनी !

तो वह इतने बड़े सौन्दर्य को सामने नहीं लाये, जितना गोस्वामी तुलसीदासजी इन पंक्तियों में—

बहुरि बदन-बिधु अंचल ढाँकी ;
पिय तन चितै भौंह कर बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नयननि ;
निज पिय तिनहि कह्यौ सिय सयननि ॥

बात यह है कि पहली पंक्तियों का सौन्दर्य चित्र-सौन्दर्य है, दूसरी का भाव-सौन्दर्य। दोनों दो भिन्न धरातल की चीज़ें हैं। अतिरंजन-शीलता और अव्यावहारिक कल्पनाओं को छोड़कर हमारे साहित्यकार आज इन्हीं सूक्ष्म भावों और कार्यों के धरातल पर आ रहे हैं। साहित्य के प्रेमियों के भयभीत होने की कोई बात नहीं। यह प्राचीन कवियों और कलाकारों की अस्वीकृति नहीं है, केवल उनकी रचनाओं के धरातल के सहारे साहित्य के ऊँचे स्तरों पर उठने की चेष्टा है, जिनको प्राप्त कर लेने पर पीछे का निम्न धरातल हमें स्वयं छोड़ देगा।

जन-साहित्य

हमारे अपने युग में जनसाहित्य की आवाज़ जोरों से उठी है। रूस में गोर्की ने और हमारे अपने देश में प्रेमचंद ने सबसे पहले इस प्रकार का साहित्य तैयार किया है जिसमें पीड़ितों, शोषितों और उपेक्षितों को नायक ('हीरो') बनाया गया है। इस प्रकार के साहित्य में जनसमूह की आशा-आकांक्षा अत्यंत उद्वेग के साथ प्रकाशित हुई है। इसे हम 'जनसाहित्य' कहते हैं। साहित्य और जीवन के जिस अनिवार्य संबंध पर हम बातचीत कर रहे थे, उससे आगे बढ़कर यहाँ जीवन ही साहित्य बन जाता है। वह जीवन भी एक वर्ग का। सामंतों, राजा-महाराजाओं या धनी मानी-मध्यवित वर्ग का जीवन उपेक्षणीय और प्रतिक्रियावादी बता कर छोड़ दिया जाता है।

जनता का साहित्य, प्रोलेतरत साहित्य—यह आज की आवाज़ है। इस साहित्य के विषय क्या हों, प्रेरणा क्या हो, रूपरंग क्या हो, इस विषय में सभी में मतैक्य नहीं है। अ० भा० प्रगतिशील लेखक संघ (१९३८) के घोषणापत्र में नये जनसाहित्य (प्रगतिशील साहित्य) की रूपरेखाएं गढ़ने का प्रयत्न किया गया है—

"भारतीय समाज में आमूल परिवर्तन हो रहे हैं। यद्यपि प्रतिक्रिया की भावना में अब जीवन के तत्त्व अवशिष्ट नहीं हैं और उसका विनाश अन्ततोगत्वा अवश्यम्भावी है तथापि वह अब भी क्रियाशील है और अपने को बनाये रखने के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा रही है। जब से प्राचीन संस्कृति का अंत हुआ है तब से भारतीय साहित्य में जीवन के यथार्थों से भागने की घातक प्रवृत्ति ने जड़ जमा ली है। उसने यथार्थों से भागकर निराधार अध्यात्म और कोरी आदर्शवादिता में जाकर शरण लेने का प्रयत्न किया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि उसका शरीर और उसकी आत्मा निर्जीव हो गई है और उसने एक जड़ कलावादिता तथा जीवन के प्रति एक ऐसे दृष्टिकोण को अपना लिया है जो पुरोगामी और पतनोन्मुख है।

प्रत्येक भारतीय लेखक का कर्तव्य है कि वह भारतीय जीवन में होने वाले परिवर्तनों को अभिव्यक्ति दे और साहित्य में वैज्ञानिक बुद्धिवाद का समावेश करके देश में क्रांति की भावना के विकास में सहायता पहुँचाये। उन्हें साहित्य-समीक्षा के एक ऐसे दृष्टिकोण का विकास करना चाहिये जो परिवार, धर्म, काम, युद्ध और समाज के प्रश्नों पर सामान्यतः प्रतिक्रियाशील और पुराणपंथी प्रवृत्तियों का विरोध करे। उन्हें ऐसी साहित्यिक प्रवृत्तियों का विरोध करना चाहिए जो साम्प्रदायिकता,

जाति-द्वेष तथा मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की भावना को प्रतिबिंबित करती हों।

हमारे संघ का उद्देश्य साहित्य तथा अन्य कलाओं को, जो अब तक रूढ़िपंथी वर्गों के हाथ में पड़कर निर्जीव होती जा रही हैं, उनको शुद्ध कराके, उनका निकटतम संबन्ध जनता में कराना और उन्हें जीवन के यथार्थों की अभिव्यक्ति का माध्यम और नये विश्व का निर्माण करने वाली शक्ति बनाना है।

भारतीय संस्कृति की सर्वश्रेष्ठ परम्पराओं के उत्तराधिकारी होने के कारण देश में फैली हुई प्रतिक्रिया की प्रत्येक भावना की आलोचना करना हमारा कर्तव्य है। और हम रचनात्मक तथा विवेचनात्मक साहित्य के माध्यम से उन सभी शक्तियों को बल प्रदान करेंगे जो हमारे देश को उस नये जीवन की ओर ले जायेंगी जिसके लिए वह संघर्ष कर रहा है। हमारा विश्वास है कि नये भारतीय साहित्य को हमारे दैनंदिन जीवन की आधार-भूत समस्याओं—भूख और विपन्नता, पुराणपंथी सामाजिकता और राजनैतिक परतन्त्रता का चित्रण करना चाहिये। जो कुछ भी हममें उदासीनता, निष्क्रियता और विवेक-हीनता उत्पन्न करता है, उसे हम प्रतिक्रियाशील समझते हैं और उसका प्रतिवाद करते हैं; जो कुछ भी हममें एक आलोचक की वह स्वस्थ जिज्ञासा उत्पन्न करता है, जो संस्थाओं और प्रचलित रीति-रवाज़ों को विवेक की रोशनी में देखती है और हमें अपने कार्य में, अपने को संगठित करने में, परिवर्तन लाने में सहायता पहुँचाती है, उसे हम प्रगतिशील समझते हैं और स्वीकार करते हैं।"

ऊपर जो विवेचन उद्धृत किया गया है, उससे स्पष्ट है कि नये साहित्य की पुकार के अर्थ हैं—

(१) किसानों, मजदूरों, हरिजनों, शोषितों और पीड़ितों की समस्याओं का विवेचन और उस विवेचन के आधार पर क्रांति-मूलक प्रगतिशील साहित्य की रचना

(२) इस नये साहित्य के नये कला-मूल्यों का सृजन

(३) प्राचीन साहित्य के सभी उपयोगी तत्त्वों का इस नये साहित्य में समावेश

(४) मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों (तृष्णा, अन्न, काम इत्यादि) की नैसर्गिक स्वतंत्रता की घोषणा इस नये साहित्य के माध्यम से

(५) उदासीनता, निष्क्रियता और विवेकहीनता के विरुद्ध जिहाद

(६) जाति, वर्ग, देश से ऊपर उठकर व्यापक विश्व को लेकर मौलिक दृष्टिकोण की सृष्टि ।

सच तो यह है कि अभी तक हम साहित्य, कविता और कला को एक अत्यन्त संकीर्ण दृष्टिकोण से परखते रहे हैं। मध्ययुग के अन्त तक का हमारा साहित्य सामंत, राजा-महाराजा, अमीर और वर्ग-विशेष को ही सामने रख कर लिखा गया। इस साहित्य ने जन-मन तैयार नहीं किया। मशीनयुग ने नया बुर्जुआ वर्ग खड़ा किया। उसने सामंतवाद और धर्मवाद से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया और अनेक प्रगतिशील तत्त्वों का समावेश किया। परन्तु मशीनयुग के आरम्भ के कवि और लेखक नये बुर्जुआ वर्ग से बाहर नहीं निकल सके। धीरे-धीरे साहित्य का नेतृत्व उनके हाथ से निकल गया और नया मजदूर-वर्ग इसका नेता बना। परन्तु यह वर्ग साहित्य-सम्बन्धी अपनी धारणाओं का स्थायित्व नहीं प्राप्त कर सका है और न युग-युग से चले आते जन-गीतों और जन-कथाओं को ही अपनी नई कला का आधार बना सका है। परन्तु यह निश्चित है

कि आज के साहित्य में जीवन की पुकार बहुत तीव्र स्वरों में उठी है और उसे अस्वीकार करना असंभव है। जैसे-जैसे हम युगों-युगों से चली आती जन-संस्कृति को समझते जायेंगे, वैसे-वैसे हम जन-साहित्य की ओर बढ़ते चलेंगे।

साहित्य का आनन्द

पाठकों का एक वर्ग ऐसा है जो 'आनन्द देने वाली पुस्तकों" से उपन्यास, कथा-कहानी, यात्रा-चमत्कार से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकें समझ लेगा, और कहेगा—"इसमें झूठ क्या है। पुस्तकों से बड़ा आनंद मिलता है। हमने 'चंद्रकांता' पढ़ी, 'भूतनाथ' पढ़ा। कैसा जी लगता था, वाह!" उसकी पुस्तक-सम्बन्धी धारणा कथा-कहानियों तक ही चक्कर लगाती है। परन्तु किस्से-कहानियाँ पुस्तक-भांडार का केवल एक भाग मात्र हैं।

सच तो यह है कि कितने ही मनुष्यों को चंद्रकांता और भूतनाथ का कोई रस नहीं मिलता, परन्तु रामायण, महाभारत या लीलावती में वह इस प्रकार लग जाते हैं जैसे इनमें उन्हें बड़ा आनन्द आ रहा हो। इसलिये यह स्पष्ट है कि साहित्य का आनन्द कथा-कहानी तक ही सीमित नहीं है। वह व्यापक वस्तु है। यदि हम स्वतंत्र होते तो यह कह सकते हैं कि इस व्यापक वस्तु को इस श्रेणी में रखेंगे और 'साहित्यरस' कहकर पुकारेंगे। यही रस साहित्य के नवरसों से पहले आयेगा क्योंकि इसके बिना तो उन नौ रसों तक पहुँचा ही नहीं जा सकता। साहित्य के सब रस इसके बाद आते हैं।

यह दुर्भाग्य की बात है कि हमने पुस्तकों के आनन्द को अब तक कोई नाम नहीं दिया। इससे हमारी अकृतज्ञता ही सूचित होती है।

परन्तु नाम हो या नहीं हो, पुस्तकों का आनन्द नूतन वस्तु नहीं है। हमारे पूर्वज उससे भली भाँति परिचित हैं, साक्षी वे बृहद् हस्तप्रतियाँ (पांडुलिपियाँ) हैं जो ताड़पत्रों पर बड़े परिश्रम से लिखी गई हैं। ईसा से तीन सहस्र वर्ष पहले का जो साहित्य हमारे सामने आज भी उपस्थित है, उसके मूल में यही पुस्तकों का आनन्द है। पुस्तकें क्या हैं? लिपिबद्ध ज्ञान या रसानुभूति। यह ज्ञान और रसानुभुति लिपिबद्ध न होकर कंठगत भी हो सकती थी। सहस्रों वर्षों तक वह इसी रूप में रही। अंत में ताम्रपत्र, तालपत्र या ताड़पत्र पर हमारे सामने आई। अब पुरानी पोथियों के रूप में हमारे पास है। आज तो मुद्रण यंत्र के आविष्कार के कारण नित्यप्रति सहस्र-सहस्र पुस्तकें हमारे सामने आती हैं और खप भी जाती हैं। लोग खरीदते हैं, पढ़ते हैं, आनन्द लेते हैं।

मनुष्य की एक मौलिक वृत्ति, अभिन्न वृत्ति है जिज्ञासा। इस जिज्ञासा के फलस्वरूप वह जानना चाहता है। जब वह उस चीज़ को जान लेता है जिसे पहले नहीं जानता था तो तृप्ति का आनन्द भी उसे मिलता है—ज्ञानप्राप्ति का आनन्द। दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, भूगोल, ज्योतिष आदि की पुस्तकों के अध्ययन के पीछे इसी ज्ञानप्राप्ति के आनन्द का बल है। यह "दर्शन" का आनन्द है। वाजश्रवा ऋषि ने दक्षिणा में अपना सर्वस्व दे डाला। पुत्र नचिकेता ने पूछा—पिता! मुझे किसे दिये जा रहे हो। उसके बार-बार पूछने पर पिता ने चिढ़ कर कहा—मैं तुम्हें यम को दे रहा हूँ। नचिकेता यम के पास चला गया। यम से उसने ब्रह्म के सम्बन्ध में कई प्रश्न किये। यम ने तरह-तरह से फुसलाया। उसने उसे तरह-तरह के प्रलोभन दिये, परन्तु नचिकेता अटल रहा, पूछता रहा—मृत्यु के बाद मनुष्य का अस्तित्व है या नहीं, प्राणी का स्वरूप क्षणभंगुर है या नित्य

तत्त्व वाला ? "नान्योत्वरस्तुल्भं एकस्य कश्चित्" (यही बताओ, यह बट सर्वातीत है) जो दर्शन, विज्ञान और शास्त्रों के अध्ययन में आनन्द लेते हैं, उन्हें जिज्ञासा की तृप्ति के रूप में यही वरदान मिलता है।

परन्तु ज्ञान ही सब कुछ नहीं है, जीवन में अनुभूति का भी स्थान है। पुस्तकों (साहित्य) का एक वर्ग रसानुभूति प्रदान करता है। साहित्य, काव्य, नाटक, कथोपकथन, उपन्यास, कहानी—ये रसानुभूति के विभिन्न रूप हैं। पुस्तकों का यह वर्ग आनन्द के लिए ही पढ़ा जाता है, ज्ञान अपेक्षित नहीं है। इसके लिये आचार्यों ने नवरस और रसराज शृङ्गार की व्यवस्था की है। हम तटस्थ भावों से पात्रों में उन सब रसों की उपस्थिति देखते हैं जो हमारे अनुभूत हैं और हम उन्हें आनन्द के रूप में ग्रहण करते हैं। जहाँ पात्र नहीं है, जैसे गीतिकाव्य में वहाँ लेखक ही पात्र है क्योंकि वहाँ साधारणीकरण के नियम द्वारा पाठक और पाठ्य अभिन्न हो जाते हैं।

यह नहीं समझना चाहिये कि रसधर्मी में ज्ञान-मूलक आनन्द एकदम नहीं मिलता है जो ज्ञानधर्मी ग्रंथों का विषय है। बाल्मीकि रामायण की ही बात लीजिये। परन्तु उसमें महान पात्रों के जीवन के परिचय का भी आनन्द मिलेगा जिससे पाठक क्षण भर के लिए उस वातावरण से कहीं ऊँचा उठ जायगा जिसमें वह स्वयम् घिरा है। यही नहीं, उसे धर्म की उस अत्यंत परिचित होने का आनन्द भी मिलेगा जिसपर बाल्मीकि ने कथा को प्रतिष्ठित किया है। रामायण के प्रारम्भ में बाल्मीकि पूछते हैं—चारियेण च को युक्तः (चरित्र से कौन युक्त है ?)। उत्तर मिलता है—राम (रामो विग्रहवान् धर्मः) जिनके सम्बन्ध में बाल्मीकि ने ही लिखा है—

यथामृतस्तथा जीवन यथासति तथा सति ।
यत्यैष बुद्धिलाभ वृद्धिलाभः स्यात्परितप्येत केन च ॥

धर्म की उच्चतम भूमि पर उठकर इस महान चरित्र से परिचित होना भी आनन्द है। तुलसी के रामचरितमानस में रामधर्म या राम-भक्ति का ही आनन्द लिया जा सकता है। कथा-संगठन का अपना स्वतः ही आनन्द है जो निश्चय ही बौद्धिक है। प्रेमचंद या गोर्की के उपन्यासों में एक अत्यंत परिचित जीवन से पुनः परिचित होने का आनन्द मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य का आनन्द मुख्यतः दो प्रकार का है– ज्ञानमूलक और रसानुभूति-मूलक। किसी पुस्तक में इनमें से कोई एक है, किसी में दोनों का मिश्रण है। कहीं ज्ञानमूलक आनन्द की मात्रा अधिक है, कहीं रसानुभूति-मूलक आनन्द की मात्रा अधिक है। उपयोगी साहित्य में ज्ञानमूलक आनन्द की प्रधानता है, शुद्ध साहित्य में रसानुभूति मूलक आनन्द की। परन्तु सम्प्रति अनेक वैज्ञानिक पुस्तकें ऐसी लिखी गई हैं जिन्हें पढ़ने से "रोमांच" का आनन्द मिलता है। हमारे ऋषियों ने भी ज्ञान को रससिद्ध करके ही जनता के सामने रखा था। संसार की अव्यक्त, अनिर्वचनीय मूल सत्ता को आज का विज्ञान स्वीकार करता है, उसी को भारतीय दर्शनशास्त्र में "अश्वत्थ" की कल्पना से सुगम कर लिया गया है—

अव्यक्त मूलमनादि तरुत्वच चारि निगमागम भने ।
षटकन्ध शाखा पंच बीस अनेक पनि सुमन घने ॥
फल जुगल विधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे ।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार-विटप नमामहे ॥

इस प्रकार ज्ञान को रससिद्ध करने और मन के साथ-साथ हृदय को ग्राह्य बनाने का प्रयत्न बराबर चला आ रहा है। इसी तरह रसधर्मी ग्रंथों में बौद्धिक तत्त्व की मात्रा कम-अधिक रहती ही है।

उन दोनों प्रकार के आनन्दों में भी एकता ढूँढी जा सकती है। उपनिषद् में कहा है—यो वै भूमा तत सुखम् नाल्पे सुखमास्ति (भूमा में सुख है; थोड़े में सुख नहीं है)। आनन्दधर्मी साहित्य के मूल में यही भूमा भाव है। उससे मस्तिष्क या हृदय का विस्तार होता है। मस्तिष्क का विषय है ज्ञान, हृदय का विषय है रस। वैज्ञानिक साहित्य से ज्ञान की वृद्धि होती है, प्रज्ञा को विस्तार मिलता है। हृदयधर्मी साहित्य में सहानुभूति का विस्तार होता है। दोनों के मूल में एक ही भाव है जो आनन्द का कारण है। हम अपनी सीमाओं से बाहर निकल कर दूसरी वस्तु से परिचय प्राप्त करते हैं और उससे हृदय-मन का संबन्ध जोड़ते हैं।

२

कविता

प्रकाश के सात रंग अपनी भिन्न-भिन्न सत्ता खोकर जब एक केन्द्र पर आ जाते हैं, तो जो नव-निर्माण होता है, वह सब रङ्गों से भिन्न, किन्तु विशिष्ट सत्ता रखता है। और रसायन के प्रयोग में दो-दो, तीन-तीन बीज-तत्त्वों के मिलाने से नवीन सृष्टि होती है, जो बाद में कितनी ही नवीन वस्तुओं का करण-कारण बनती है। जैसे प्रकाश के इन भिन्न-भिन्न रङ्गों और रसायन के बीज-तत्त्वों को एक जगह लाकर नवीन सत्ता में स्थापित करने का श्रेय क्रमशः दर्पण (Lens) और रासायनिक को है, उसी तरह प्रकृति, मनुष्य और सूक्ष्म सत्ता के सहारे नये, किंतु ऊँचे धरातल पर निर्माण करना कवि की विशेषता है।

यह निर्माण पहले कवि के मन में होता है और कवि के मन के उस अस्पष्ट, किंतु बीज-चित्र को वास्तविक कविता कह सकते हैं। यही बीज-कविता जो सौन्दर्यबोध से उत्पन्न होकर लिखते समय धीरे-धीरे विकास पाती है, जब अपने विकसित रूप में काग़ज़ पर आती है तो कवि की—हमारे माने में—कविता बन जाती है।

ग्रीस (यूनान) के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने कविता के संबंध में विवेचन करते हुए लिखा है—"मैंने उनकी (कवियों की) सब से सुन्दर रचना ली और उनसे पूछा कि वे उसका क्या अर्थ करते हैं। परंतु उपस्थित सज्जनों में से कोई भी व्यक्ति कवि से अच्छा अर्थ कर

सकता था। मुझे जान पड़ा कि कवि अधिक विद्वान् है, इसलिये वह कविता नहीं लिखता, किंतु इसलिये कि उसकी प्रकृति ऐसी है कि वह उत्तेजित हो सकती है।" सुकरात का मतलब था कि वह देखे कि कवि कितनी मानसिक सतर्कता से रचना करता है और यह कि कहाँ तक जान-बूझ कर सृष्टि करता है। इससे दो बातें साफ़ हो जाती हैं। कविता-सृजन और कविता से आनन्द लेने की दो भिन्न प्रवृत्तियाँ हैं। वास्तव में वे दो भिन्न प्रवृत्तियाँ नहीं भी हैं—उनका उद्गम एक ही है, अन्तर इतना है कि कविता-सृजन की प्रवृत्ति अधिक मुखर होती है, परन्तु जब सुकरात कविता पर विवेचना करता हुआ प्रश्न कर रहा था, वह एक अन्य प्रवृत्ति के वशीभूत था, जो काव्यसृजन और काव्यानंद से भिन्न है; उसे हम समालोचना-प्रवृत्ति कह सकते हैं। साधारण पाठक की धारणा इतनी पुष्ट नहीं होती। वह काव्य के सौन्दर्य और उक्ति की विचित्रता के कारण प्रश्न के धरातल से उसी क्षण ऊपर उठ जाता है अथवा उसके प्रश्न आनंद के नीचे दब जाते हैं, और फिर इन तीनों प्रवृत्तियों के बीच में हम कोई स्पष्ट विभाजक रेखा भी नहीं खींच सकते।

तो क्या कवि की सृष्टि अनर्गल है? क्या कविता के विभिन्न भागों का उसके मन में कोई क्रम-बद्ध और नपा-तुला रूप नहीं होता? क्या कविता में विचारों का स्थान नहीं? और यह दार्शनिक कवि क्या चीज़ है?

कविता को हम यदि उस रूप में लें, जिसमें वह हमारे सामने आती है, छन्दोबद्ध और काग़ज़ पर लिखी, तो हम कविता को संकीर्ण शब्दों में ग्रहण कर रहे हैं। कविता का वास्तविक रूप वह है, जो कवि के मन में चित्र अथवा भाव के रूप में रहता है और जो शब्दों के पहले

आता है। प्रत्येक कला का केवल एक तात्पर्य होता है—वह एक विशेष अर्थ के लिए है—और कविता-कला भी एक विशेष अर्थ की पूर्ति करती है। यह अर्थ क्या है? साधारणतः हम कहते हैं कि साहित्य के प्रत्येक अंग का (और इसलिए कविता का भी) काम है कि वह साहित्यकार के (अथवा कवि के) मानसिक चित्र को पाठक के सामने रखे, अर्थात् अभिव्यक्ति। परन्तु इतना ही नहीं है। इसका एक और भी दृष्टिकोण है। अभिव्यक्त किए हुए चित्र और भाव को पाठक ठीक-ठीक ग्रहण कर ले, यह भी साहित्य ही है। दोनों के मिलाने से साहित्य का पूरा रूप बनता है। मैं जो कुछ भी कहना चाहता हूँ, श्रोता उसे समझ न सके, तो मेरा तात्पर्य पूरा कब हुआ? मन की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति कब हुई? 'कला कला के लिए' सिद्धांत के पक्षपाती कला का वास्तविक अर्थ नहीं करते; वे केवल एक ओर से देखते हैं। साहित्य-कार की ओर से साहित्य उसका अनुभव प्रकट करता है और पाठक की ओर से वह साहित्यकार का अनुभव उसी प्रकार स्पष्ट करता है।

साहित्यकार इस तरह कहता है कि उसका कहना उसके भाव, चित्र अथवा विचार को प्रगट करता है। यह हो सकता है कि कलाकार किसी हद तक इस प्रकार कह न सके कि उसके भाव, चित्र अथवा विचार उसी तरह पाठक को स्पष्ट हों; वह चित्र में अपने मन की अभिव्यक्ति और चित्र के द्वारा पाठक की ग्रहण शक्ति में से किसी एक को प्रधानता दे दे; परन्तु असंभव है कि वह अपने चित्र को इस तरह रक्खे कि वह चित्र कुछ भी अभिव्यक्त न करे और फिर भी वह 'साहित्य' नाम की चीज़ देने का दावा करे। एक पागल के मन में जो चित्र आते हैं, उन्हें वह अपने ढंग पर प्रगट करता है, परन्तु उससे किसी प्रकार

उसके मन के चित्र अन्य पर स्पष्ट नहीं होते। साहित्यकार पागल नहीं है और यदि उसका साहित्य पाठक को कुछ स्पष्ट नहीं करता तो वह पागल के सिवा और कुछ नहीं है।

तो एक ओर साहित्यकार (कवि) है और दूसरी ओर पाठक। साहित्यकार (कवि) अपने अनुभव को व्यक्त करता है और पाठक साहित्यकार के अनुभवों को ग्रहण करता है। दोनों के बीच में भाषा का माध्यम है, जिसके द्वारा कवि का अनुभव पाठक तक पहुँचता है। कवि के मन को जो अनुभव होता है, उसमें कवित्व रहता है, परन्तु यदि वह उसे प्रकट न करे तो साहित्य का कुछ भी लाभ नहीं। और यदि उसका अनुभव ग्रहण होने की क्षमता नहीं रखता और पाठक को कवि का ठीक-ठीक चित्र नहीं देता, तो भी साहित्य के किसी काम का नहीं। कवि के चित्र, भाव और विचार की सार्थकता इसी में है कि उसके वे चित्र, भाव और विचार पाठक के मन पर उसी तरह ठीक-ठीक रेखाओं के साथ उतर आयें।

शब्द के द्वारा जिस भाव को अभिव्यक्ति होती है, उसे कभी तो हम भाषा से किसी तरह अलग नहीं कर सकते, और कभी किसी हद तक अथवा संपूर्ण अलग रह सकते हैं। जहाँ अर्थ की सत्ता भाषा के बिना अक्षुण्ण रहती है अथवा अर्थ प्रधान होता है, वहाँ शुद्ध साहित्य नहीं रह जाता। वहाँ वह भाषा-विज्ञान, दर्शन अथवा अर्थशास्त्र के तत्त्वों, अंकों और सिद्धांतों को पहुँचाने का साधन-मात्र रह जाता है। कविता दूसरी चीज़ है। उसमें चित्र, विचार अथवा भाव भाषा को छोड़ कर चल नहीं सकता। उसकी सारी सार्थकता उसके इस अविभाजित रूप में है। आइंस्टाइन (Einsteiu) अथवा डारविन के सिद्धांत भाषा से बाहर

एक बड़ी चीज़ है और इसी रूप में उनकी उपयोगिता है। परन्तु कवि जब कहता है—

डोलने लगी मधुर मधुवात,
हिला तृण-व्रतति कुंज तरु पात।
डोलने लगी प्रिये मधुवात,
धूलि-मधु गंध-गुंज मृदु गात।
खोलने लगीं शयित चिर काल,
नवल कलि अलस पलकदल-जाल,
बोलने लगीं डाल पर डाल,
मृदुल, पुलकाकुल कोकिल-बाल।

तो वह न कोई सिद्धांत देता है, न तत्त्व। भाषा और भाव का ऐसा सामंजस्य रहता है कि न भाव के बिना भाषा चल सकती है, न भाषा के बिना भाव। अर्थ के रूप में इस उद्धरण में क्या है? यही न, बसंत की हवा डोली, पत्ते हिले, कलियाँ खुलीं और कोयल बोली! परन्तु क्या इन सूचनाओं की पाठकों के लिए कोई उपादेयता है? वे उसके किस काम की हैं? परन्तु इन पंक्तियों को पढ़कर पाठक के मन में उत्साह भर जाता है, उसके नेत्रों में चमक आ जाती है और वह झूमने लगता है। कवि का उत्साह (हमारे माने में उसका कवित्व) छंद के इस शुष्क माध्यम के द्वारा पाठक को छू लेता है और वह जैसे परीदेश की रानी की छड़ी हो, पाठक का कवित्व जाग जाता है और वह उसके प्रभाव में पड़कर कवि की तरह हो उठता है। यही कविता की सार्थकता है। कवि ने जो अनुभव किया, वह इस तरह दे दिया गया कि पाठक उसे कवि के समान ही ग्रहण करता है।

इसी लिए जब हम कहते हैं कि कला अभिव्यक्ति है तब हमारा तात्पर्य होता है कि वह ऐसी अभिव्यक्ति है, जो अन्य तक उसी सरलता से पहुँच जाती है। उपादेयता से अलग अनुभव की अपनी सत्ता है। अनुभव अपने पैरों पर खड़ा रह सकता है। हम एक इमारत को देखकर सोच सकते हैं कि वह रहने के लिए किस हद तक उपयोगी है, उसमें कहाँ नहाने का कमरा होगा, कौन बैठक रहेगी, परन्तु हम इन विचारों में न पड़कर भी उसे देखकर प्रसन्न हो सकते हैं। इस प्रकार अनुभव अपने बल पर पूर्ण है। यदि हम शब्दों द्वारा उसी प्रसन्नता को प्रकट करें तो उसकी भी अपनी अलग और पूर्ण सत्ता होगी, और यदि पाठक में उसी प्रसन्नता का सृजन कर सके तो हमारे शब्द साहित्य के अंदर आ जायेंगे।

जीवन में अनुभव की कमी नहीं है। बहुधा ऐसा होता है कि हम उन अनुभवों से पूर्णत: संतुष्ट नहीं होते, हमारी आवश्यकताएँ और हमारे विचार उनमें मिल जाते हैं। फिर भी हम अधिकतः अनुभवों को अनुभव समझ कर उनसे आनंद प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु कुछ अनुभव ऐसे भी हैं जो हमारी चेतना-शक्तियाँ ही ग्रहण कर सकती हैं। आध्यात्मिक और रहस्यवादी अनुभव इसी प्रकार के अनुभव हैं। वे व्यक्ति की चीज़ हैं, समष्टि की नहीं। वे आते हैं जैसे अंधकार में आलोक और सभी उन्हें ग्रहण नहीं कर सकते। इस प्रकार के अनुभव करने वाला शब्दों की (इसलिए कि शब्द अर्जित ज्ञान से बाहर नहीं जाते) स्थूलता अथवा कमी के कारण अपने अनुभव पूर्ण शक्ति और पूर्ण रूप से प्रगट नहीं कर सकता और जब वह किसी हद तक प्रकट करता भी है, साधारण मनुष्य उन्हें ग्रहण करने में असमर्थ रहते हैं।

रहस्यवादी कवियों (ब्लेक, कबीर, बॉगन आदि) की अस्पष्टता और अल्पप्रियता का यही कारण है। परन्तु सभी अनुभव इस कोटि के नहीं होते। वे प्रकट किये जा सकते हैं और पूरी तरह। यही कवि की सफलता और महानता है। इन अनुभवों के भीतर हमारी सभी उत्तेजनाएँ आ जाती हैं। इस विचार को, दर्शन के एक तत्त्व को अथवा विज्ञान के एक सिद्धांत को अनुभव के रूप में, उसके मूल-तत्त्व की ओर न जाते हुए, केवल अनुभव के रूप में दिलचस्पी लेते हुए भी ग्रहण कर सकते हैं। इस प्रकार के शुष्क विचार, तत्त्व और सिद्धांत हमारे भाव-चक्र में आकर और हमारे हृदय का रस पाकर साहित्य बन जाते हैं और सत्य न रह कर भी 'सुन्दर' के रूप में जीवित रहते हैं। जीवित ही नहीं रहते, विशेष सत्ता और विशेष मूल्य रखते हैं। सत्य क्या है, कोई भी नहीं कह सकता, परन्तु सुन्दर के रूप में जो है, उसे ग्रहण करने में हमें क्या बाधा है? इसीलिए साहित्य सभी ज्ञान से बड़ा है और सभी से अधिक टिकाऊ है। असल में जो सुन्दर है, वही एक मात्र और सबके लिए एक-सा सत्य है।

तो साहित्य का अर्थ यह रहा कि साहित्यकार जो अनुभव करे, साहित्य के द्वारा पाठक भी वही अनुभव करने लगे। अनुभव बाहर के स्पर्श से पैदा होता है और कवि यह 'बाहर' अथवा उसके द्वारा उत्पन्न भाव और उत्तेजना पाठक के सामने साकार कर देता है। तभी वह सफल नहीं हो जाता। उसे तो किसी तरह भी अपना अनुभव पूरा-पूरा देना है और अनुभव 'बाहर' की चीज़ से अलग नहीं। वह तब सफल होगा, जब वह दोनों देगा और उनके साथ ही पाठक की कल्पना के लिए सुन्दर वातावरण उपस्थित कर देगा।

परन्तु कवि के पास है क्या ? भाषा। भाषा के द्वारा उसे अपने अन्यतम व्यक्तित्व को दूसरे तक पहुँचाना है। और भाषा बड़ी ठोस चीज़ है। वह किस प्रकार यह करेगी ? पाठक की कल्पना को उत्तेजित करके।

साहित्य के सृजन के मूल में कल्पना का प्रधान हाथ है। वह पाठक और कवि दोनों के लिए आवश्यक है। कवि के अनुभव यदि उसकी कल्पना को उत्तेजित न करें, वह यदि विषय को चित्र की तरह साफ़ सामने नहीं रख सका तो उसकी कृति सुन्दर और पूर्ण नहीं होगी। और यदि उसके शब्द पाठक की कल्पना-शक्ति को उत्तेजित न कर सके, कवि के विषय को चित्र की तरह साफ़ सामने नहीं रख सके तो पाठक को कवि का आनंद नहीं आयेगा और वह चीज साहित्य से कुछ कम रह जायेगी। कल्पना के द्वारा कवि जीवन के इतने चित्रों में से उस एक चित्र को अलग कर तब तक स्पष्ट कर रक्खेगा, जब तक वह उसे शब्दों द्वारा पाठक को न दे सके। उसके शब्द उसके अनुभव की प्रतिच्छाया होंगे।

कवि के शब्द उसके अनुभव के प्रतीक होते हैं। वह अपना अनभव. देता है और अनुभव भाषा के रूप में उसके पास नहीं आता। जिस रूप में वह उसके पास आता है, उसे वह भाषा में ढालता है और पाठक उसे पाकर उसे फिर वही रूप देता है। दोनों ओर यह कल्पना द्वारा होता है।

अब भाषा की बात है। कवि की भाषा अनुभवों की प्रतीक-मात्र होती है, और प्रतीक पूरे चित्र की ओर इंगित कर सकते हैं, स्वयम् पूरे चित्र नहीं होते। इसीलिए कवि का अनुभव पूरी शक्ति से प्रगट होना कभी संभव नहीं। इसके सिवा उसके प्रतीक (शब्द) ऐसे हों, जो पाठक

में वही चित्र पैदा कर सकें। एक बात और। अनुभवों की कोई सीमा नहीं और भाषा सीमित है। भाषा का आधार वही शब्द हैं जो उस ज्ञान के प्रतीक हैं, जो मनुष्य को पहले हुआ है। प्रत्येक मनुष्य का अनुभव दूसरे से भिन्न रहता है, परन्तु फिर भी वह उसे एक भिन्न भाषा में नहीं दे सकता। सारी सीमा के साथ भाषा उसे दूसरों की अपनानी होगी। इसीलिए कवि की चेष्टा होती है कि वह उसी सीमित भाषा के द्वारा पाठक की कल्पना को उत्तेजित कर सके और उसे ठीक मार्ग पर चला सके। वह नये शब्द बना सकता है, परन्तु ये कल्पना को उत्तेजित नहीं कर सकते और बेकार सिद्ध होंगे।

साहित्य की भाषा आम बोलचाल की भाषा नहीं होती। भाषा में तर्क अथवा व्याकरण के अनुसार एक गठन होता है, परंतु उसको साहित्यिक भाषा का रूप देने के लिए इससे कुछ अधिक चाहिए। इस सब गठन के ऊपर एक प्रवाह रहता है और उसके पीछे एक शक्ति। कविता में यह बात गद्य से अधिक स्पष्ट हो सकेगी। साहित्य में विचार-विचार के लिए नहीं होता। वह कल्पना को संगठित और सुगठित बनाने के लिए होता है। और केवल विचार ही नहीं, अनुभव के साथ कवि की उत्तेजनाएं, भावनाएँ, छापें (Impressions) और विचार को उत्तेजित करने वाले सभी संसर्ग देते हैं। पाठक में उनका ठीक-ठीक अपना अनुभव जगा देने पर ही कवि सफल होता है।

इसीलिए कवि को शब्दों के अर्थ और व्याकरण के गठन के ऊपर उठना होता है। वह भाषा की ओर इशारा देने वाली शक्ति की खोज करता है और उसे काम में लाता है। भाषा की इस अंतर्हित शक्ति का प्रयोग साहित्य-कलाकार को अन्य लोगों से भिन्न कर देता है।

भाषा की इस अंतर्निहित शक्ति की आधार उसकी चार विशेषताएँ हैं। इनको व्यावहारिक रूप से हम अलग नहीं कर सकते, परन्तु चेतना उनकी प्रथक सत्ता को समझती है। भाषा का आधार शब्द हैं और शब्द के अर्थ होते हैं और ध्वनि। शब्दों के अर्थ और ध्वनि-भागों को हम अलग नहीं कर सकते, परन्तु किसी एक को दूसरे पर प्रधानता दे सकते हैं। अब, इन शब्दों के सामूहिक अर्थ होते हैं (व्याकरण के अनुसार अर्थ) और उनका सामूहिक संगीत (लय)। और इन दोनों हालतों में भी बहुधा किसी विशेष शब्द के स्थान पर विशेष अर्थ और विशेष ध्वनि। विशेष शब्दों के अर्थों के साथ उनके प्रयोगों और अवसरों के कारण तरह-तरह के छोटे-छोटे अर्थ मिल जाते हैं और शब्द का मूल्य इन्हीं मेलों के कारण घटता बढ़ता है। इसीलिए कविता में शब्दों का चुनाव बड़ा महत्वपूर्ण है।

शब्द के अर्थ का बहुत-सा भाग उसकी ध्वनि से स्पष्ट हो जाता है और इस तरह अर्थ की संपूर्ण व्यंजना में ध्वनि मिली होती है। परन्तु अकेले ध्वनि को भी अर्थ पर महत्व दिया जा सकता है। शब्द के निर्माण में जो स्वर और व्यंजन काम में लाये गये हों, उनकी पृथक-पृथक ध्वनियों की आवृत्ति-अनावृत्ति और उनकी ध्वनियों में संघर्ष कलाकार-कवि के हाथ में बड़े महत्व की चीज़ हो जाता है। दूसरे, पद्य के प्रत्येक चरण में शब्दों के सामूहिक संगीत में, एक प्रकार का उतार-चढ़ाव होता है। हम इसे 'लय' कह सकते हैं। कविता में यह बड़े महत्व की चीज़ है। 'लय' के साथ कवित्वपूर्ण वातावरण रहता है और छंद की गति और लय उपयुक्त वातावरण के पैदा करने में प्रधान भाग रखते हैं। इस कवित्व-मय वातावरण के बिना अनुभव जीवित नहीं रह सकता।

भाषा के संबंध में विचार करते हुए तब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भाषा में ध्वनि और अर्थ के द्वारा हम काव्यगत अनुभव को पाठक तक पहुँचाते हैं और उस अनुभव के ग्रहण होने के लिए उपयुक्त वातावरण उत्पन्न कर देते हैं। ऐसा करते समय कवि प्रत्येक बार कहीं ध्वनि और कहीं अर्थ पर अधिक ध्यान देता है। और इस प्रकार विभिन्नता की सृष्टि करता है। जब कवि वासुकि का वर्णन करता हुआ कहता है—

"शत शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर"

तब वह ध्वनि-सौन्दर्य को सार्थक बनाकर उसके द्वारा अर्थ और चित्र की चेष्टा करता है। शब्द वासुकि के सहस्र-सहस्र फनों की भाँति फूत्कार कर उठते हैं और अर्थ से भी बड़ी एक चीज़ स्वतः प्रकाशित हो जाती है। परन्तु जब वह कहता है—

अंधकार गर्त थाके अध सरीसृप,
आपनार ललाटेर रतन प्रदीप
नाहि जाने नाहीं जाने सूर्यालोक लेश।
ते मनि आँधारे आछे एई अंध देश।

(अंधा साँप अँधेरे गड्ढे में रहता है। उसे अपने ही मस्तक के रत्नप्रदीप का हाल नहीं मालूम। सूर्य के प्रकाश का भी उसे ज्ञान नहीं। इसी तरह हमारा यह देश भी अँधेरे में पड़ा है।) वह ध्वनि से अधिक शब्दों के अर्थ-मूल्य का प्रयोग करता है, और ध्वनि से नहीं, अर्थ से काव्यगत अनुभव और उत्तेजना पैदा करना चाहता है।

अंत में कविता के संबंध में केवल छंदों की बात रह जाती है। छंद का सम्बन्ध आकार और संगीत से है। कवि का अनुभव विशृंखल नहीं

होता और उसके विभिन्न भागों में एक साम्य और सामंजस्य रहता है। इस साम्य को पाठक के मन में उत्पन्न करने के लिए और उसे ग्रहणशील बनाने के लिए कविता में छंद की आवश्यकता आती है। केवल इतना ही नहीं है, काव्य-रचना छन्द के रूप के अनुसार चलती है और उपयुक्त छंद मिलने पर कवि की कल्पना को प्रचलित धारा में बहने की उत्तेजना मिलती है। कविता के कितने भाग का श्रेय छंद को है, यह खोज करना कठिन है। परन्तु यह अवश्य है कि सफल कविताएँ विशेष छंदों में हुई हैं और महाकवियों की प्रतिभा विशेष छंदों पर अवलंबित रही है। कवि का काम है कि वह काव्यानुभव की सुन्दरतम अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त छंद, लय और शब्द ढूँढ़े और अपने अनुभव को पाठक अथवा श्रोता तक सफलतापूर्वक पहुँचा दे। यही नहीं, वह अनुभव पाठक अथवा श्रोता के मन में प्रतिक्रिया उत्पन्न करे और उसके मनस्तंतु उस अनुभव को सजीव कर लें और उसमें रहने लगें।

काव्य में कल्पना

काव्य में कल्पना का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें कोई संदेह नहीं। कवि हमारी प्रतिदिन की परिचित वस्तुओं को अपरिचित गुणों से विभूषित करता है और उनके सौन्दर्य की ऐसी छटा दिखलाता है, जो हमारे सामने पहली बार आती है। काव्य का मूल ढाँचा भले ही वास्तविक अनुभव, लोकज्ञान आदि पर खड़ा हो, इसमें कोई संदेह नहीं कि कल्पना उसका प्राण है।

हमारे आचार्यों के एक वर्ग ने कल्पना की महत्ता समझ कर "अलंकार" को ही कविता कह दिया था। "अलंकार" का आश्रय कल्पना ही है। हम इतनी दूर नहीं जा सकते परन्तु कल्पना की काव्योप-

योगिता में हमें अटल विश्वास है। उत्कृष्ट काव्य से यदि कल्पना का अंश निकाल दिया जाय तो रसपूर्ण स्थल अवश्य रह जायेंगे, परन्तु काव्य का कौतूहलवर्द्धक, नित्य-नवीन, अपार्थिव अंश नष्ट हो जायगा। महाकवि के काव्य में पग-पग पर कल्पना और वास्तविकता का आश्चर्य-जनक गठबन्ध होता रहता है। उसका मूल्य कम नहीं है। तुलसी के काव्य से अलंकार-सम्बन्धी स्थल निकाल लिए जायें तो रामचरित मानस की साहित्यिक महत्ता की बहुत कुछ क्षति हो जायगी। यही नहीं, धार्मिक भावना को भी चोट लगेगी। सीता के सौन्दर्य के लिए तुलसी कल्पना करते हैं—

> जौ छवि सुधा-पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई॥
> सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥
> एहि विधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल।
> तदपि संकोच समेत कवि कहहिं सीय समतूल॥

पहले कवि ने धर्म-भावना को पुष्ट करने के लिए सीता की तुलना देवियों से करनी चाही परन्तु उसकी कल्पना ने एक विचित्र प्रकार से देवियों के ऊपर सीता की श्रेष्ठता सिद्ध कर दी। इस अर्थसिद्धि के लिए कवि को धर्म-कथाओं की ओर जाना पड़ा। इनसे उसने अपने अलंकार की सामग्री ली। फिर वह "रमा" शब्द से परिचालित होकर एक अभिनव परिचालित होकर एक अभिनव लक्ष्मी की कल्पना करता है और उसके जन्म हेतु उपदान इकट्ठे करता है। यह सब कल्पनाशक्ति के सहारे। इस चित्र को रामचरितमानस से हटा लीजिये, सीता के अनुपम पुण्य भावनामय सौन्दर्य की प्रतिष्ठा अधूरी रह जायगी।

काव्य और कल्पना का इतना निकट का सम्बन्ध है कि कवि को

कल्पनाप्रिय जीव मानकर उसे अव्यावहारिक ही मान लिया गया है। परन्तु वास्तव में कल्पना भी भित्ति अव्यवहार नहीं, व्यावहारिक ज्ञान है। अलंकारों के मूल में कवि की ज्ञानमूलक चेतना प्रतिष्ठित होती है। उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं के सहारे कवि पद-पद पर अपने अर्जित ज्ञानकोष का सहारा लेता है। वह कल्पना द्वारा (१) परिचित वस्तु को थोड़ा बहुत बदल कर नये सौन्दर्य में नये रूप से स्थापित करता है। (२) अनदेखी अथवा अस्तित्वहीन वस्तुओं को मूर्त बनाता है। (३) पुराने अनुभवों को मिलाकर या नवीन अनुभवों से पुरानी अनुभूतियों का सम्बन्ध जोड़ कर एक वस्तु का दूसरी वस्तु से अनेक प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करता है। कहीं एक वस्तु दूसरी वस्तु की सीमाएँ स्पर्श कर लेती है, कहीं एक वस्तु दूसरी वस्तु को अपने रंग में रंग लेती है। यह सब कल्पना की माया है। इसी का एक वह रूप 'प्रतीक' है जब उपमान पूर्णतः उपमेय का स्थान ग्रहण कर लेता है। काव्य में कल्पना का महत्व इसी से स्पष्ट हो जायगा कि प्रतीक काव्य का सर्वोच्च प्रकार माना गया है। जहाँ कवि अपने अर्थ के अभिधार्थ और व्यंगार्थ स्पष्ट नहीं कर पाता, जैसे रहस्यवाद काव्य मे, वहाँ वह कल्पना का सहारा लेकर प्रतीकों का निर्माण करता है और सफलता में प्राप्त होता है। सन्तकाव्य इन्हीं प्रतीकों के कारण उच्चतम काव्य की श्रेणी में आता है, परन्तु कल्पना के साथ जो हृदयानुभूति भी पूरी मात्रा में मिल जाती है, वहाँ सर्वोत्कृष्ट काव्य के दर्शन होते हैं। वहाँ कवि विषय और प्रतीक एक हो जाते हैं। जयदेव के काव्य में अथवा सूर के कृष्णकाव्य में हम स्थान-स्थान पर काव्य के इस ऊँचे स्तर पर पहुँच जाते हैं। तात्पर्य यह है कि क्या निम्नतम, क्या उच्चतम, काव्य सदैव कल्पना के सहारे

आगे बढ़ता है। रसपूर्ण स्थलों की अवतारणा करते समय कवि कल्पना का सहारा न ढूँढ़ता हो, यह बात नहीं। उसे अपने अंतःचक्षु खुले रखना होते हैं।

कल्पना के द्वारा कवि चाहे अपने अभीष्ट अर्थों को स्पष्ट करने में सफलता प्राप्त कर सके, स्वयं कल्पना का भी अपना एक आनन्द होता है। कवि के लिये कल्पना की यह भी एक महत्वपूर्ण सार्थकता है। इस दृष्टि से कल्पना निरर्थक है। मनुष्य में सृजन की एक प्रवृत्ति होती है। अपने क्षेत्र में कवि भी एक अभिनव सृष्टि रचना चाहता है। विधाता की सृष्टि के सम्मुख अपनी सृष्टि रखकर उसे आनन्द प्राप्त होता है। सृजन का आनन्द ही कल्पना के खेलों को सुन्दर बना देता है। इसी आनन्द के बल पर कवि वीभत्स चित्रों को रच कर भी प्रसन्न होता है। कल्पना के बल पर ही उसने अप्सराओं, किन्नरों, यक्षों और अपर लोकों की सृष्टि की है और देव-दानवों की विचित्र आकृतियाँ हमें दी हैं। कल्पना स्वतः-प्रेरित है। वह अपना विस्तार करके प्रसन्न होती है।

परन्तु कल्पना निराधार नहीं होती। वह हवा में किले नहीं उठाती। उसका आधार कवि का इंद्रियजन्य अनुभव ही है। इसी भित्ति पर वह ऐसे ऊँचे महल बनाता है जो आकाश को चूमते हैं। हम इन महलों के कंगूरों को ही देखते हैं और हमें भित्ति की याद नहीं आती है परन्तु भित्ति है अवश्य। इसमें संदेह नहीं। हाँ, कल्पना का स्पर्श पाकर सांसारिक अनुभव सौन्दर्य से अनुप्राणित हो जाता है, ज्ञान रहस्यात्मक अनुभूति में परिवर्तित हो जाता है, जैसे-जैसे कवि सांसारिक ज्ञान का अधिकाधिक उपार्जन करता जाता है, वैसे-वैसे उसकी कल्पना प्रौढ़ होती जाती है, उस नये ज्ञान को अपनी सामग्री बनाकर वह उत्तरोत्तर सुन्दर

चित्रों की स्थापना करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान और कल्पना में विरोध नहीं है। कल्पना की भित्ति ज्ञान है। कल्पना ज्ञान को सुन्दर और अधिक वास्तविक (यथार्थ) बना देती है। कल्पना ही "कवि-सत्य" की जननी है।

स्वयं कल्पना-चित्रों का यदि हम अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि उनके पीछे बुद्धि की शक्तियाँ पर्याप्त मात्रा में रहती हैं। उनका निर्माण किन्हीं सूत्रों पर आश्रित एवं परिचालित रहता है। तुलसी के जिस जिस कल्पना चित्र को हमने उद्धृत किया है उसमें ग्रहण, परिहार, सक्रमण, स्थापना की बौद्धिक प्रवृत्तियाँ क्रियाशील हैं। तुलसी का धार्मिक दृष्टिकोण कल्पना को संयत बना रहा है, यह भी स्पष्ट है। सच तो यह है कि जहाँ कल्पना कवि की Conscious artistry को पुष्ट करती है, वहाँ वह उच्छृङ्खल हो ही नहीं सकती।

परन्तु कल्पना का एक रूप वह भी है जहाँ वह खिलवाड़ बन जाती है। यहाँ वह छोटी-छोटी सुन्दर उद्‌भावनाओं के रूप में हमारे सामने आती है। उस समय उसे Fancy कहते हैं। कविता में कल्पना के इस क्रीड़ा-प्रधान रूप का भी स्थान है परन्तु वह इतना महत्वपूर्ण नहीं जितना रससंचार करने वाली शृङ्खलित गम्भीर कल्पना का।

रस के प्रति नवीन दृष्टिकोण

मनुष्य के भीतर मस्तिष्क और हृदय दोनों के व्यापार चलते रहते हैं। हमारे पूर्वजों ने रागात्मक वृत्ति पर बल दिया था। कारण यह था कि साहित्य की व्याख्या करते समय उनकी दृष्टि के सामने नाटक (दृश्यकाव्य) था जिसमें मस्तिष्क की अपेक्षा हृदयानुभूति

की अधिक आवश्यकता थी। परन्तु मनुष्य के प्रत्येक अनुभव में रागात्मक और प्रज्ञात्मक शक्तियाँ मिली रहती हैं। वह हृदय के द्वारा अनुभव करने के साथ ही ज्ञान के द्वारा अनुभव को ग्रहण भी करता है। जहाँ भावभूमि या रागात्मक भूमिपट मनुष्य के अन्दर रहता है, वहाँ प्रज्ञात्मक भूमिपट भी। दोनों संस्कारजन्य होते हैं और नये संस्कारों द्वारा परिष्कृत होते रहते हैं। इसलिए अब यह आवश्यकता है कि हम काव्य में मस्तिष्क के स्थान को भी उचित मात्रा में स्वीकार करें।

साधारणतयः हमें वस्तु का परिचय केवल एक दिशा से नहीं मिलता। हमारे भावात्मक दृष्टिकोण से हमारी ज्ञान-भूमि प्रभावित होती रहती है और उसके अनुसार हम विशेष-विशेष दिशाओं से वस्तु का परिचय करके अपने मस्तिष्क के भीतर उसका परिज्ञान (Reception) उत्पन्न कर लेते हैं। भिन्न-भिन्न मनुष्यों की भिन्न-भिन्न रागात्मक वृत्तियों और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में ज्ञान होने के कारण सभी व्यक्तियों के लिए उसका परिज्ञान भी एक-सा नहीं रहता। परन्तु यही परिज्ञान हमारे मन में भूमिका निर्माण करता है और बाद में प्राप्त किये हुए ज्ञान को प्रभावित करता है। ज्ञान के साथ राग का अनुभव भी होता है। इसीलिए जो ज्ञान-पट हमारे भीतर बनता है वह कुछ वस्तुओं के लिए उल्लासप्रद, कुछ के लिए विषादप्रद, कुछ के लिए घृणा लिए हुए होता है।

बुद्धि पूर्व ग्रहीत ज्ञान से नए परिज्ञान का परिचय कराती है और हमारे मानसिक संसार में उसकी पहुँच होती है। इस प्रकार हम देखते हैं राग और प्रज्ञान में इतना भेद नहीं जितना साहित्य-शास्त्र ने स्वीकार किया है। देखा गया है कि विशेष प्रकार से सोचने पर उसी के अनुसार

भावों की उत्पत्ति होती है और स्नायुमूलक अनुभाव प्रारम्भ हो जाते हैं। ये भाव जब तीव्र होते हैं तो राग उत्पन्न हो जाता है और जब राग बहुत काल तक बना रहता है तब वह रस बन जाता है। इस प्रकार रस के परिपाक के लिए एक ओर समय और दूसरी ओर राग की अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है।

हमने कहा है कि रस-दृष्टि का आरम्भ दृश्य-काव्य की अनुभूति की आलोचना से हुआ। इस अनुभूति के लिए कथानक के विभिन्न अंगों और कालांतर की आवश्यकता होती है। प्रबन्धकाव्य और महाकाव्यों पर यह बहुत कुछ लागू हो सकता है परन्तु मुक्तक रचना में रस की पुष्टि के लिए साधन इकट्ठे नहीं होते। मुक्तक कवियों ने परम्परा से आकृष्ट हो और आचार्यों की विचारधारा की गहराई में न पैठकर एक ही छंद में अनुभाव, विभाव आदि भरकर रस-सृष्टि की चेष्टा की। फल यह हुआ कि हाथ न रस आया, न भाव। रस की पुष्टि करने के लिए आलम्बन, उद्दीपन, विभाव और अनुभाव आदि साधन आवश्यक हैं परन्तु इनसे भी अधिक चाहिये समय का विस्तार जो मुक्तक में मिलना असम्भव है।

और यह भी आवश्यक नहीं कि रस-सृष्टि के लिए इन सभी अंगों का रहना भी आवश्यक हो। किन्हीं दो, तीन या केवल एक अंग की पुष्टि से भी रस की उत्पत्ति सम्भव है।

वर्तमान समय में कविता मुक्तक के रूप में आरम्भ हुई। पहले खड़ी बोली के कवियों ने ब्रजभाषा की कविता से प्रभावित होकर रस की दृष्टि से छन्दों में रस-सृष्टि के अनेक अंगों की योजना की। जिनके पद्य में

बौद्धिकता की मात्रा अधिक देखी गई उन्हें "गद्यकार" कहकर खड़ी बोली की कविता की खिल्ली उड़ाई गई। उन दिनों सामाजिक, राजनैतिक और प्राकृतिक विषयों पर जो कविताएं लिखी जाती थीं, उन्हें लेखक ही कदाचित् कविता नहीं कहते। वे पुरानी रस-दृष्टि को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। परन्तु छायावाद के कवियों ने अंगरेज़ी और बंगला से प्रभावित होकर जब मुक्तकों की सृष्टि की तो उन्होंने रस-सृष्टि पर ध्यान नहीं दिया और भावप्रधान कविताएँ कर डालीं। वे किसी भी प्रकार रसवादी नहीं कहे जा सकते। रस पैदा हो जाय तो ठीक। वे इस विषय में रीतिकालीन कवियों की तरह सचेष्ट नहीं हैं। भावों की विविधता, भावों की तीव्रता, भावों की सूक्ष्मता, भावों का वैचित्र्य, कल्पना के द्वारा भावों को रँगना और भावात्मकता अनुभूति द्वारा उन्हें रस की श्रेणी तक उठा देना—यह हम उनकी कविताओं में पाते हैं। सच तो यह है कि आधुनिक कविता का दृष्टिकोण आत्मव्यंजनात्मक (Subjective) है, पर व्यंजनात्मक (Objective) नहीं है। उसमें तन्मयता है जो स्वयम् एक रस की सृष्टि कर देती है। यह तन्मयता भावों को घनीभूत, केन्द्रीभूत, और गहरा करके रस की उत्पत्ति करती है, नाटक के रस की भाँति उसके विभिन्न अंगों की पुष्टि करके नहीं।

नाटक का रस प्रबन्ध-काव्य का रस किसी अंश में भी हो सके, कथा-कहानी, उपन्यास, मुक्तक और रसपूर्ण निबन्ध (Light essay) का रस नहीं हो सकता। आवश्यकता इसकी है कि हम रस की नये प्रकार से व्याख्या करें या जिस प्रचलित अर्थ में उसका प्रयोग हो रहा है, उसकी संकीर्णता स्वीकार कर लें। हमारा साहित्य अनेक दिशाओं में बह रहा है और यह ठीक नहीं है कि हम प्रत्येक दिशा के साहित्य का फैर

एक ही चीनी जूते में कस कर उसकी वृद्धि रोक दें या अपूर्ण मानदण्ड लेकर आलोचना करें।

साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना है कि हमारे साहित्य में, और काव्य में भी, बौद्धिकता का अंश विशेष है। कवि अनेक ज्ञान का ज्ञानी है। आज केवल छंद कह लेने भर का नाम कविता नहीं है। नई संस्कृति और समाज और नवीन ज्ञान के प्रकाश में बाहर-भीतर की वस्तुओं से रागात्मक सम्बन्ध जोड़ना और मनोवृत्तियों को परिष्कृत करना—न करना तो उन्हें स्पष्ट आकार या रूप ही देना, उसका लक्ष्य है। आज "रसः वै सः" कह देने भर से काम चलता नहीं दीखता।

साथ ही हमें अपनी रसों की व्याख्या को अधिक वैज्ञानिक और परिष्कृत रूप देना होगा। श्री काका कालेलकर ने "रसों का परिष्कार" शीर्षक निबन्ध में इसका विस्तृत विवेचना किया है। उदाहरण के लिए, आज हमारी "वीररस" की परिभाषा में महान् अन्तर होना आवश्यक है। भूषण और सूदन की मारकाट और अनुप्रास-गर्भित रचना श्रेष्ठतम वीररस की रचना नहीं मानी जानी चाहिये। वीररस के मूल में "उत्साह" मनोभाव है। उसके प्रदर्शन के लिए मारकाट, युद्ध और रक्तपात के अतिरिक्त और भी क्षेत्र हैं। देश-भक्तिमूलक वीररस की कविताओं में आज आत्म-बलिदान, आत्मपीड़न और कष्टसहन के प्रति उत्साह प्रगट किया जा रहा है। इस नई भावना ने वीररस-सम्बन्धी हमारी धारणा को ऊँचा उठाया है। और "जुगुप्सा" का दूसरा ही रूप हमारे सामने है। हमने सामाजिक वैषम्य के वीभत्स चित्रों को पाठकों सामने रखा है। आज वीभत्सरस के प्रदर्शन के लिए हमें "आँतड़ी की

झोली बाँधे" जैसी कविताओं की आवश्यकता नहीं रही। हमारे यहाँ शृङ्गाररस को रसराज कहा गया है। इसके मूल में भावना यह है कि रतिभाव मनुष्यों में ही नहीं, पशु-पक्षियों में भी है ; अभी हमारे वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र बोस ने यह सिद्ध कर दिया है कि जड़ धातुओं और उद्भिजों में भी रति-भाव उपस्थित है। पशु-पक्षी कदाचित् हास्यरस का अनुभव नहीं करते। हम यह नहीं जानते कि वीभत्स जैसे रसों का अनुभव वे कहाँ तक कर सकेंगे। इसी से साहित्य-शास्त्रियों ने रतिभाव की व्यापकता को देखकर शृङ्गार को रसराज कहा है। क्या यह आवश्यक नहीं है कि हम रसराज को "परकीया" "सामान्या" जैसे समाज-विहित आलम्बनों से मुक्त करें ? क्या शृंगार और दाम्पत्य में कोई अन्तर नहीं है, और क्या इन दोनों को अलग-अलग रस माना जा सकता है ? शृंगार के मूल में काम भाव है, रति के प्रति विशेष आग्रह है। दाम्पत्य के मूल में स्त्री-पुरुष की सहयोग-भावना है। वास्तव में जहाँ शृंगार या काम-भाव की समाप्ति होती है, वहाँ ही दाम्पत्य-भाव का आरम्भ होता है। इस प्रकार के अनेक प्रश्न जब हल हो जायेंगे, तो हम रस के प्रति नवीन दृष्टिकोण को पूरा-पूरा ग्रहण कर सकेंगे। अभी तक स्वयम् रसशास्त्री ही इस नवीन दृष्टिकोण की केवल रूपरेखा-मात्र ही बना सके हैं।

काव्य में करुणरस

भवभूति ने करुणरस को एकमात्र स्वतंत्र रस माना है, अन्य रस तो केवल उसके विकार मात्र हैं—

> एकोरसः करुण एव निमित भेदादि भिन्नः
> पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।

आवर्त्त बुदबुद तरंग मयान् विकारा—
नम्भो यथा सलिलमेव तुत्समग्रम् ॥

अन्य रसशास्त्री इस हद तक नहीं जाते। वे उसे नवरसों में से प्रमुख रस अवश्य मानते हैं। वे "शृङ्गार" को "रसराज" कहते हैं। वास्तव में अन्तर दृष्टिकोण का है। यदि हम उस रस को प्रधानता देना चाहें जो जीवन की अनेक परिस्थितियों को छूता है, जिसकी व्यापकता अधिक है, जिसमें सञ्चारी भाव सबसे अधिक आयें, तो सचमुच शृंगाररस को सर्वोच्च रस मानना पड़ेगा। परन्तु यदि हमारी दृष्टि स्थायी प्रभाव एवं मनोवृत्तियों के परिष्कार पर है तो करुणरस ही सर्वप्रधान रस है।

करुणा की अनुभूति के पीछे परदुःख अनुमान की प्रवृत्ति है। हम अपने दुख से तो दुखी होते ही हैं, परन्तु दूसरों को पीड़ा में देख कर उनके दुःख का अनुमान भी कर सकते हैं। बच्चे दूसरे बच्चों को रोते हुए देखकर रोने लगते हैं। यही नहीं, वह झूठ-मूठ रोने की चेष्टा या मुद्रा को देखकर भी रो पड़ते हैं। माँ जब झूठमूठ ऊँ-ऊँ करती है, तो बच्चे रोने लगते हैं। दूसरों के सुख-दुख से प्रभावित होना मनुष्य की विशेषता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसका बहुत-सा सुख-दुख दूसरों की क्रिया या अवस्था पर अवलंबित रहता है। हम दूसरों के सुख से सुखी, दुख से दुःखी होते हैं, परन्तु दूसरों के दुख से दुखी होते हैं। पर-दुख से दुखी होने का नियम दूसरे के सुख में सुखी होने के नियम से कहीं अधिक व्यापक है। यही दूसरों के दुःख के परिज्ञान से जो दुःख होता है, वही करुणा के नाम से पुकारा जाता है।

कदाचित् मनुष्य के मन के किसी उद्वेग ने उसका इतना परिष्कार नहीं किया है जितना करुणा के उद्वेग ने। शील, सात्विकता आदि

मनोविकारों और कर्मों का आधार यही करुणा की प्रवृत्ति है। इसका कारण यह है कि शील, सात्विकता जैसे गुणों का संस्थापन परस्पर की सहानुभूति और सामाजिक आदान-प्रदान के द्वारा ही होता है। मनुष्य की सात्विक प्रवृत्तियाँ अन्य प्राणियों के साथ उसके संबंध या संसर्ग से ही व्यक्त होती हैं। प्रत्येक प्राणी यह चाहता है कि उसे सुख की प्राप्ति हो और उसके दुख की निवृत्ति हो। मूलतः पर-दुःखकातर होने के कारण वह किसी को दुख में पड़ा देखना भी नहीं चाहता। जिस प्रवृत्ति के कारण सामूहिक सुख की वाञ्छा दृढ़ होती है, उसे श्रेष्ठ सामाजिक गुण कहना चाहिए। करुणा की प्रवृत्ति इसीलिए श्रेष्ठतम मानवीय प्रवृत्ति कही जायगी। पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—"मनुष्य के अन्तःकरण में सात्विकता की ज्योति जगाने वाली यही करुणा है। इसी से जैन और बौद्ध धर्म में इसकी बड़ी प्रधानता दी गई है और गोस्वामी तुलसीदास ने जो भी कहा है—

पर-उपकार सरिस न भलाई।
परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

काव्य में करुणा का महत्त्व उससे कम नहीं जितना प्रतिदिन के लोकजीवन में है। वियोग शृङ्गार और वियोग-वात्सल्य का तो वह प्राण ही है। काव्यगत करुणा के कई भेद हो सकते हैं। एक प्रकार की करुणा वह है जब प्रिय के सुख के अनिश्चय से मन भाराक्रांत होकर दुखी होता है। राम-जानकी बन चले गये और कौशल्या उनके सुख के अनिश्चय के कारण ही उद्विग्न है—

बन को निकरि गए दोउ भाई।
सावन गरजै, भादौं बरसै, पवन चलै पुरवाई॥

कौन बिरिछ तर भीजत ह्वै हैं रामलखन दोउ भाई ॥

इसी तरह यशोदा इसी भावना के वशीभूत होकर उद्धव से कहती है—

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो ताय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो॥
उबटन, तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रमि क्रमि करिकै न्हाते।
तुम तो टेव जानतिहि ह्वै हौ तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतहि माखन रोटी भावै॥
अब यह सूर मोहि निसि बासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलक लड़ैते लालन ह्वै हैं करत संकोच॥

दूसरी अवस्था वह है जब धीरे-धीरे अनिश्चय अधिक गहरा हो जाता है और प्रेमी प्रिय के विषय में घोर अनिष्ट की आकांक्षा करता है—

नदी किनारे धुँआ उठत है, मैं जानूँ कछु होय।
जिसके कारण मैं जली, वही न जलता होय॥

इस प्रकार की पति-वियोगिनी की आशंका अनैसर्गिक नहीं है, यद्यपि काव्य में ऐसे स्थल बहुत कम हैं क्योंकि इस प्रकार की आशंका प्रिय के प्रति अमंगल की सूचक है। विरह-जनित दुःख या क्षोभ में करुणा की मात्रा उतनी नहीं रहती, परन्तु प्रिय के मृत्यु की आशंका और मृत्यु में दुःख के साथ-साथ करुणा की भी अनुभूति होती है। "किसी प्रिय या सुहृद के चिर वियोग या मृत्यु के शोक के साथ करुणा या दया का भाव मिलकर चित्त को बहुत व्याकुल करता है। किसी के मरने पर उसके प्राणी उसके साथ किए हुए अन्याय, या दुर्व्यवहार, तथा उसकी इच्छापूर्ति में अपनी त्रुटियों का स्मरण और यह सोचकर कि उसकी

आत्मा को संतुष्ट करने की सम्भावना सब दिन के लिये जाती रही, बहुत विकल और अधीर होते हैं।" प्रिय-मृत्यु वियोग-जनित कारुणिक विलापों का साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। "अज-विलाप" प्रसिद्ध ही है। "कादम्बरी" इस प्रकार के कई विलापों से भरी हुई है।

वस्तुतः करुणा का जितना प्रसार होगा, वह सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिये आवश्यक होगा। परस्पर सहयोग की भावना के मूल में करुणा ही की उपस्थिति है। यह कहा जाता है कि सहयोग की भावना के मूल में निज-कल्याण-भावना है, परन्तु सच तो यह है कि सहयोग-भावना में हम बुद्धि से परिचालित होकर पहले यह निश्चित नहीं कर लेते कि सहयोग से किस प्रकार हमारा कल्याण होगा। वास्तव में, हम सहयोग की ओर मन को स्वतः प्रवृत्त करने वाली प्रेरणा से जाते हैं। यही प्रेरणा करुणा है। उपन्यासों में करुणा की प्रवृत्ति का स्थान महत्वपूर्ण है। अधिकतर प्रेमव्यवहार करुणा से परिचालित दिखाये जाते हैं। इस भावना से प्रेरित होकर युवक दुष्टों के हाथ में पड़ी युवतियों का उद्धार करते हैं। फलस्वरूप नायिका कृतज्ञ होती है और बदले में युवक पर श्रद्धा करती है जो धीरे-धीरे प्रीति में बदल जाती है।

हिन्दी काव्य में करुण रस की रचनाएँ अधिक नहीं हैं। जो हैं, वे भी अधिक उच्च कोटि की नहीं। हमारे प्राचीन काव्य-साहित्य में भक्ति, वीर और शृङ्गार रसों की प्रधानता रही है। वियोग शृङ्गार के निरूपण के लिये जितने अच्छे उदाहरण हमें अकेले सूरदास के काव्य में मिल जाते हैं, उतने सारे संस्कृत काव्य-साहित्य से नहीं। परन्तु सूर, तुलसी, जायसी—सभी में करुण रस केवल प्रसंग-वश कहीं आ भर गया है, उसे परिपक्वता

नहीं मिली। इधर भारतेन्दु के समय से देश और जाति की दुर्दशा को लेकर करुणरस की अवतारणा की गई है—

जहँ भए शाक्य हरिचन्द नहुष ययाती।
जहँ राम युधिष्ठिर वासुदेव सर्याती॥
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती।
तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती॥
अब जहँ देखहुँ तहँ दुखहि दुःख दिखाई।
हा हा भारत दुर्दशा देखी न जाई॥

(भारतेन्दु)

कहाँ आज इक्ष्वाकु कुकुत्सु कहाँ मानधाता।
कहँ दिलीप रघु अजहुँ कहाँ दशरथ जग त्राता॥
पृथ्वीराज हमीर कहाँ विक्रम सम नासक।
कहाँ आज रनजीतसिंह जग-विजय प्रकासक॥

(अम्बिकादत्त व्यास)

मैथिलीशरण, प्रसाद, पंत, कौशलेन्द्र आदि के काव्य में भी अनेक प्रकार से करुण रस का प्रकाशन हुआ है। परन्तु मुक्तक का आश्रय लिया जाने के कारण रस-परिपाक भली भाँति नहीं हो सका है। रस-परिपाक के लिये कथा का आश्रय लेना आवश्यक है। मुक्तक काव्य में भाव ही आ सकते हैं। वास्तव में आधुनिक काव्य में जिसे करुण रस का नाम दिया जाता है वह बहुत कुछ नैराश्य, विषाद, ग्लानि आदि भाव ही हैं। छायावाद काव्य में जिस दुःखवाद की प्रतिष्ठा हुई है, उसमें नैराश्य-जनित विषाद की ही प्रधानता है। आलम्बन स्पष्ट न होने के कारण रस (अथवा भाव) की पुष्टि में बाधा पहुँचती है। महादेवी जी

की रचनाओं में हम यही नहीं समझ पाते कि विषाद क्यों, किस लिये ? इस प्रकार जिस भाव की सृष्टि होती है, उसे हम करुणा भी नहीं कह सकते। नये कवियों को दुःख प्रिय है। उन्होंने कुछ परिस्थितियों के कारण, कुछ अनुकरण-प्रियता के कारण और कुछ दुःख के प्रति मनुष्य की स्वाभाविक सहानुभूति के कारण इस प्रकार की करुण-विषादपूर्ण रचना-शैली ही गढ़ ली है। करुण-रस की अभिव्यजना के लिए आलम्बन की स्पष्टता कदाचित् अन्य रसों की अपेक्षा अधिक आवश्यक है और उसकी अस्पष्टता से काव्य एकदम दूषित हो जाता है।

करुण रस की महत्ता इसी में है कि उसके द्वारा हमारी सहानुभूति का विस्तार होता है, हमारी वृत्तियाँ कोमल हो जाती हैं, हम शिथिल नहीं होते, वरन् दुःख के कारण से लड़ने के लिये कटिबद्ध हो जाते हैं। यदि करुण-रस पूर्ण काव्य से इनमें से कोई भी उद्देश्य पूर्ण हुआ तो वह सफल है। यदि वह हमें शिथिल और हताश कर दे तो उसका "रस" नाम भी सार्थक नहीं है या उस रचना के लिए हमें किसी नए रस की सृष्टि करनी होगी। ट्रेजेडी (दुखांत) के प्रेक्षक को यदि दुख ही हुआ, जीवन की स्फूर्ति न मिली, वह स्वयम् आत्मघात की ओर प्रेरित हुआ, तो यह रचनाकार की असफलता है।

काव्य में शृंगाररस

करुण-रस की बात हम ऊपर कर चुके। यदि करुण रस का अर्थ है अत्यंत व्यापक सहानुभूति, तो उसे ही वास्तव में नेतृत्व मिलना चाहिये। 'पंत' ने ठीक ही कहा है—

वियोगी होगा पहला कवि
आह से निकला होगा गान।

और शेली भी कहता है—

> Our sweetest thoughts are those
> That tell of saddest things

वास्तव में कवि व्यापक महानुभूति से ही पानी होता है। इसी से आदि काव्य रामायण का आदि स्रोत वाल्मीकि के उस श्लोक में मिलता है जो उन्होंने क्रौंच-वध से दुखी क्रौंची के आर्तवाद से प्रभावित होकर अकस्मात् कह दिया—

> मा निषाद प्रतिष्टां त्वयगमः शाश्वती समाः।
> यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

परन्तु करुण-रस की भाँति ही एक अन्य व्यापक भाव भी है। उसे हम 'रति' (प्रेम) भाव कह सकते हैं। यही 'रति' शृंगार का स्थायी भाव है। आलंबन के अनुरूप यह 'रति' भाव के अनेक रूप साहित्य में प्रचलित हैं। पुत्र के प्रति रति-वात्सल्य है, देवता के प्रति रति भक्ति है, समान वय के प्रति रति 'सख्य' है और स्त्री-पुरुष के बीच का कामज रति भाव 'शृंगार' है। जीवन का कोई भी क्षेत्र रतिभाव से अछूता नहीं है। छायावादी कवियों की अहम् प्रधान गर्वोक्तियों और निराशा और पीड़ा के स्तवन के पीछे स्वरति का भाव ही है।

परन्तु प्राचीन रसशास्त्री इतना आगे नहीं बढ़े थे। उन्होंने स्त्री-पुरुष के यौजन भाव को ही रति की संज्ञा दी और पात्रों के मन की स्थिति, नायक-नायिका के संयोग वियोग और अन्य परिस्थितियों के आधार पर उसकी सर्वांगपूर्ण व्याख्यायें उपस्थित कीं। 'नायक-नायिका भेद' की तो एक परिपाटी ही पड़ गई जिसमें कालांतर ने सैकड़ों तरह के नायक

और सैकड़ों तरह की नायिकाओं को जन्म दिया। प्राचीन शास्त्रकारों के अनुसार शृंगार रस की तालिका इस प्रकार उपस्थित की जा सकती है—
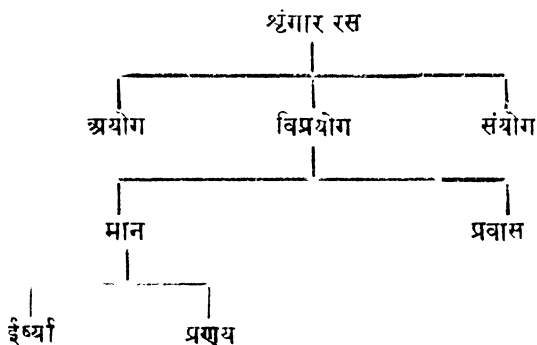
अनेक आचार्य 'अयोग' भेद को नहीं मानते। वास्तव में यह भेद समाज के लिए कल्याणकारी न होने के कारण ही हमारे आचार्यों को ग्रहीत नहीं हुआ। 'अयोग' शृंगार का मूल परवशता है। दो नववयस्क नायक-नायिका के बीच में कोई ऐसी बाधा आ जाती है जो उनका समागम नहीं होने देती। यह जाति-कुल-भेद जन्य या परिस्थिति-जन्य हो सकती है। धनंजय के अनुसार 'अयोग' की दश दशाएँ हैं १. अभिलाषा २. चिंतन, ३. स्मृति, ४. गुणकथन, ५. उद्वेग, ६. प्रलाप, ७. उन्माद, ८. संज्वर, ९. जड़ता, और १०. मरण। इस प्रकार 'अयोग' आजकल का 'दुःखांत' है। ट्रेजेडी की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति उसमें हो जाती है। इस अयोग शृंगार की एक विशेषता है। वह यह कि उसमें नायक-नायिका का संयोग एक बार भी नहीं होता। इसके विपरीत विप्रलंभ संयोग के बाद ही संभव है। यह मानसिक अवस्था है। दैहिक

वियोग-मात्र से विप्रलभ नहीं होता। इसीलिए 'प्रवास' (दैहिक दूरी) के साथ-साथ मान-जनित विप्रलंभ की भी योजना है। मान के दो कारण कहे गये हैं—ईर्ष्या और प्रणय। मान के लघु और दीर्घ भेद भी हैं और मान-मोचन के अनेक ढंगों की भी व्यवस्था मिलती है। 'संयोग' भी मानसिक भाव है। नायक-नायिका पास रहें, तो भी मान होने पर वियोगी ही रह जायेंगे।

शृंगार-रस के विकास के लिए अनेक भावों-अनुभावों की प्रतिष्ठा की गई है। प्रेम की जो बात मुख, आँख, वचन से निकलती है, उसे भाव कहते हैं। भाव पाँच प्रकार के हैं—विभाव, अनुभव, स्थायी, सात्विक, व्यभिचारी। जिससे अनेकरस अनायास ही प्रगट हों, वे विभाव हैं। इसके दो भेद हैं—आलंबन-उद्दीपन। अनुभाव आलंबन-उद्दीपन के अनुकरण हैं अर्थात् भाव अनुभव के बाद आते हैं। रति, हास्य, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, निंदा और विस्मय स्थायी भाव हैं। सात्विक भाव हैं स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कंप, वैवर्ण, अश्रु, प्रलाप। व्यभिचारी भाव ऐसे भाव है जो बिना नियम ही प्रगट होते हैं—ये हैं निर्वेद, ग्लानि, शंका, आलस्य, दैन्य, मोह, स्मृति, धृति, क्रीड़ा, चपलता, श्रम, गय, चिंता, क्रोध, गर्व, हर्ष, आवेग, निंदा, नींद, विवाद, जड़ता, उत्कंठा, स्वप्न, प्रबोध, विषाद, अपस्मार, यति, उग्रता, आशा, तर्क, अतिव्याधि, उन्माद, मरण-भय।

शृंगार-चेष्टा को हाव कहते हैं। हाव हैं—हेला, लीला-ललित, मद, विभ्रम, विहित, विलास, किलकिंचित, विच्छित, विव्वोक, मोट्टायित, कुट्टमित, बोध। इनकी व्याख्या इस प्रकार है—

१—हेला—लोकलाज छोड़ नायिका प्रियतम को देखे।

२—लीला—जहाँ प्रियतम प्रिया का रूप बना ले, प्रिया प्रियतम का रूप बना ले।

३—ललित—बोलना, हँसना देखना, चलना, सब का यथार्थ (जैसा हो, ठीक वैसा ही) वर्णन ललित है।

४—मद—पूर्ण प्रेम के प्रताप से गर्व और तरुणपन-जनित विकार से ही मद का रूप बनता है।

५—विभ्रम—दर्शन सुख आदि में लगे रहने के कारण जहाँ वस्त्राभूषण उलटे पहर लिये जायें, या अटपटा काम हो।

६—विहित—बोलने के उपयुक्त अवसर पर लाज के कारण न बोल सके।

७—विलास—खेलने, बोलने, हँसने, चितवन, चाल में जहाँ जल-थल आदि में विलास उपजे।

८—किलकिंचित—श्रम, अभिलाष, गर्व, स्थिति, क्रोध, हर्ष, भय एक ही साथ जहाँ उपजें।

९—विव्वोक—रूप और प्रेम के गर्व से जहाँ कपट-अनादर होता हो।

१०—विच्छित—भूषण पहरने से जहाँ अनादर होता है।

११—मोट्टायित—जहाँ हेला-लीला से सात्विक भाव उत्पन्न हो और उसे बुद्धि से रोकने के प्रयत्न किये जायें।

१२—कुट्टमित—जहाँ केलि में कलह हो या कलह में केलि हो, कपट-भाव रहे।

१३—बोध—जहाँ गूढ़ार्थ हो, बोध सरल न हो, ऐसे प्रकार से मन का भाव प्रगट करना। यह एक प्रकार का कूट समझिये।

नायिका—आठ प्रकार की होती हैं—(१) स्वाधीन पतिका, (२) उत्कला (उत्कंठिता), (३) वासकसज्जा (४) अभिसंधिता (कलहंतरिता), (५) खंडिता, (६) प्रोषितपतिका (७) लब्धा-विप्रा (८) अभिसारिका।

१—स्वाधीनपतिका—पति नायिका के गुण में बँधा रहे।

२—उत्का (उत्कला, उत्कंठिता)—किसी कारण से प्रियतम घर नहीं आया, इस सोच से जो शोचित हो।

३—वासकसज्जा—प्रियतम के आने की आशा से जो द्वार की ओर देखती रहे।

४—अभिसंधिता—मान मनाते समय नायक मानिनी का अपमान करे और उसे छोड़कर चला जाय, जिससे उसे वियोग का दुख हो।

५—खंडिता—प्रियतम ने आने को कहा, प्रातः आये रात को सौत के घर रहे थे, अब बहुत तरह बात बनाते हैं।

६—प्रोषित-पतिका—जिसका प्रियतम अवधि देकर किसी कार्य-निमित्त बाहर जाये।

७—विप्रलब्धा—नायक ने दूती को संकेत-स्थान बता कर नायिका को लिवा लाने को कहा, भेजा। जब वह संकेत में आई तो आप नहीं मिला।

८—अभिसारिका—प्रेम की प्रबलता के कारण स्वयं जाकर मिलती है। इसके बाद स्वकीया, परकीया, सामान्य के भेद का वर्णन है जो महत्वपूर्ण है। स्वकीया के ३ भेद हैं—उत्तम, मध्यम, अधम।

(१) उत्तमा—अपमान से मान करती है और नायक के मान करते ही मान छोड़ देती है।

(२) मध्यमा— लघु दोष से ही मान करने लगती है, बहुत प्रयत्न से ही छोड़ती है।

(३) अधमा —जो बिना प्रयोजन और बारंबार रुठे। इनके अतिरिक्त देश-काल-वय से भी नायिकाओं के अनेक भेद किये गये हैं।

जहाँ नायक-नायिका में वियोग है, वे एक स्थान पर नहीं हो सकें उसे विप्रलंभ शृंगार कहेंगे। यह चार प्रकार का है—१ पूर्वानुराग, २ करुण ३ मान, ४ प्रवास। पूर्वानुराग की केशव की परिभाषा अस्पष्ट और असम्पूर्ण है—

> देखति ही द्युति दम्पतिहि उपज परत अनुराग
> बिन देखे दुख देखिये, सो पूरब-अनुराग
>
> (८—३)

मान पूर्ण प्रेम के प्रताप से अभिमान के कारण उत्पन्न होता है। इसके ३ भेद होते हैं—लघु, मध्यम, गुरु। लघु मान उस समय उपजता है जब नायिका नायक को अन्य स्त्री को देखता हुआ देख लेती है या सखी से सुनती है। नायिका प्रिय का कहा नहीं करती, उससे लाज नहीं मानती। मध्यम मान में नायिका नायक को किसी अन्य स्त्री से बात करता हुआ देखती है। प्रियतम मनाता हो, परंतु हार जाये और अंत में उसके हृदय में भी मान उत्पन्न हो जाय। गुरु मान में अन्य नारी के रमण के चिन्ह देखे या नायक को उसका नाम लेता हुए सुने। लोक-मर्यादा का उल्लंघन करके यहाँ नायिका प्रियतम को कुछ बात कहती है, वहाँ गुरु मान नायक में उत्पन्न होता है। मान-मोचन के छः ढंग हैं—साम, दाम, भेद, प्रगति, उपेक्षा, प्रसंग-विध्वंस, दंड।

(१) साम—किसी ढंग से मन मोह कर मान छुड़ा दे।

(२) दाम—अंक से, कुछ देकर, वचन-चातुरी से मोह कर।

(३) भेद—सखी को सुख देकर अपना लेवे। तब मान छुड़ावे।

(४) प्रगति—अति प्रेम से काम-वशीभूत होकर अपना अपराध जानकर प्रियतम नायिका के पांव पड़े। परन्तु यदि नायक ने अपराध नहीं किया हो और काम-वशीभूत भी नहीं हो, तो इस प्रकार की प्रगति से रस-हानि होगी।

(५) उपेक्षा—जहाँ मान की बात छोड़ कर कुछ और प्रसंग चला दिया जाय, जिससे मान छूट जाय।

(६) प्रसंग-विध्वंस—भय से नायिका के चित्र में भ्रम पड़ जाय और मान की बात भूल जाय।

विरह की दस दशाएँ कही गई हैं—१ अभिलाषा २ चिंता, ३ गुणकथन, ४ स्मृति, ५ उद्वेग, ६ प्रलाप, ७ उन्माद, ८ व्याधि, ९ जड़ता, १० मरण :

(१) अभिलाषा—शरीर से मिलन की इच्छा।

(२) चिंता—कैसे मिले, कैसे नायक वश में हो।

(३) गुणकथन--"जहँ गुणगण मणि देहि द्युति वर्णन वचन विशेष"

(४) स्मृति—और कुछ अच्छा न लगे, सब काम भूल जाये, मन मिलने की कामना करे।

(५) उद्वेग—जहाँ सुखदायक अनायास दुःखदायक हो जाये।

(६) प्रलाप—मन भ्रमता रहे, तन-मन में परिताप हो, परन्तु वचन प्रिय पक्ष में कहे। केशव का यह लक्षण विचित्र है। वैसे शास्त्रकार अनर्गल वचन को या अनर्थक कथन को प्रलाप कहते हैं।

(७) उन्माद—कभी रोये, कभी हँसे, कभी इकटक देखे, कभी झटके से उठकर चल दे।

(८) जड़ता—जहाँ सुध-बुध भूल जाय, सुख-दुख समान माने।

(९) व्याधि—अंग-अंग विवर्ण हो जाय, ऊँची साँस ले, नेत्रों से नीर बहे, प्रलाप हो।

(१०) मरण—छलबल से भी नायक की प्राप्ति न हो, तो पूर्ण प्रेमप्रताप से मरण को प्राप्त हो। मरण का केवल उल्लेख-मात्र ही हो सकता है—"केवल निमित्त मात्र"।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी साहित्य को संस्कृत साहित्य से दाय-रूप में एक अत्यंत विकसित शृंगारशास्त्र की उपलब्धि थी। हिंदी का सारा भक्तिकाव्य (कृष्ण-भक्ति काव्य) और रीतिकाव्य संस्कृत के आचार्यों की शृंगार रस सम्बन्धी मान्यताओं के आधार पर ही खड़ा है। वास्तव में जो लौकिक रस के रूप में शृंगार है, वही पारलौकिक आध्यात्मिक दृष्टि से भक्ति (मधुर भक्ति) है। रीतिकाव्य में पौराणिक राधाकृष्ण और भक्तिकाव्य के राधा-कृष्ण का साधारणीकरण हो गया है। यदि हम विश्लेषण करें तो पता लगेगा कि यह साधारणीकरण की प्रवृत्ति कई शताब्दियों से चली आती थी। भागवत में कृष्ण ब्रह्म है। राधा का उल्लेख नहीं है, परन्तु वे गोपियों के साथ प्रेमलीलाएँ रचते हैं। व्यास पद-पद पर बता देते हैं कि यह प्रेमलीला ब्रह्म जीव के अनन्य सम्बन्ध का रूपक है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में गोलोकवासी कृष्ण के प्रेयसी के रूप में राधा भी प्रतिष्ठित है। आलिंगन, परिरम्भ, संयोग, आदि का स्पष्ट उल्लेख है। कृष्ण को 'कामकलानिधि' कहा गया है। यद्यपि रीतिशास्त्र का सहारा नहीं लिया गया है। जयदेव के काव्य में ब्रह्म-

वैवर्त्त पुराण से सूत्र लेकर कृष्ण को घोर ललित नायक के रूप में चित्रित किया गया है। यहाँ भी कृष्ण उसी रूप में उपस्थित हैं, परन्तु कवि प्रकृति के उद्दीपन, मान, दूती, अभिसार—इनका भी सहारा लेता है। ये स्पष्टतयः श्रृंगार-शास्त्र में मान्य हैं, परन्तु यहाँ यह खंडकाव्य के विषय बना लिये गये हैं। विद्यापति के काव्य में कृष्ण-राधा को एकदम नायक-नायिका रूप में खंडकाव्य बना कर उपस्थित किया गया है। विद्यापति के विषय हैं—राधा-कृष्ण का पूर्व-राग, मिलन, अभिसार, मान, दूती, मानमोचन, पुनर्मिलन, विरह, मानसिक मिलन। यहाँ मानसिक मिलन के आध्यात्मिक संकेत को छोड़कर शेष लौकिक प्रेम-काव्य ही है। सूरदास ने राधाकृष्ण के प्रेम-विकास को रीतिशास्त्र के भीतर से नहीं देखा, यद्यपि 'साहित्यलहरी' के पदों में अलंकार-निरूपण और नायिका-भेद का प्रयत्न है। फिर भी सूरसागर के राधाकृष्ण का प्रेम-विकास अत्यंत स्वाभाविक है। परन्तु श्रृंगार काव्यों से भी उन्होंने सहारा लिया है। उनके ग्रंथ पर ब्रह्मवैवर्तपुराण और जयदेव का प्रभाव ही अधिक है, फलतः उनके पदों में आध्यात्मिक अर्थ लौकिक श्रृंगार से पुष्ट होता हुआ आगे बढ़ता है। परन्तु कवि ने प्रेम-विकास को अत्यंत मानवीय धरातल पर उतारा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोक-भावना में जो श्रृंगार है वही राधाकृष्ण के आलंबन प्राप्त करने पर भक्ति बन जाता है। परन्तु साधारण भक्ति और श्रृंगार भक्ति (मधुर भक्ति) में महान अंतर है। भक्ति को हम नवरसोतर एक रस कह सकते हैं। नवरसों में उसका सीधा सम्बन्ध शांत रस से है। शांत रस के सहायक अद्भुत और वीभत्स हैं। इन तीनों का सतोगुण से सम्बन्ध है। इस प्रकार साधारण भक्तिकाव्य में इन

तीनों का समावेश होगा। इनमें वीभत्स-रस आत्म-रक्षा-भाव से पलायन की प्रवृत्ति है। शांत रस स्वयं निवृत्ति-मूलक है, प्रवृत्तियों को उसमें स्थान नहीं मिलता। परन्तु भक्ति रस की वही सीढ़ी है। वास्तव में वीभत्स और औत्सुक्य से गुज़र कर शांतरस में होता हुआ भक्त भक्तिरस को प्राप्त होता है।

शृंगारात्मक भक्ति का पहला उद्रेक कबीर में मिलता है। वे श्रद्धात्मक आदि सत्ता से प्रेमिका का नाता जोड़ते हैं और उसके विरह-मिलन के गीत गाते हैं। वास्तव में कबीर के भक्तिकाव्य में शृंगार के अतिरिक्त भी अनेक आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ मिलेंगी। तुलसी में भी लगभग यही प्रवृतियाँ कम-अधिक मिलेंगी, परन्तु दैन्य-भाव की अधिकता के कारण अस्तित्व स्थापना का अभाव है। राम के प्रति जो उनका तीव्र आकर्षण है, वह ठीक उस तरह रतिभाव के अंदर नहीं आता जैसे राम का कबीर के प्रति आकर्षण, यद्यपि रामचरितमानस की समाप्ति पर वे कहते हैं—

कामिहि नारि पियारि जिमि×× प्रिय लागो मोहि राम

(उत्तरकांड)

दैन्य भाव की अधिकता के कारण उनकी भक्ति श्रद्धामूलक है। वह श्रद्धात्मक है, दैन्यात्मक है, रागात्मक नहीं।

वल्लभाचार्य के मत में दैन्य भाव (अधीनता-प्रवृत्ति) का कोई स्थान नहीं था। उनकी भक्ति में मुख्य भाव या तो वात्सल्य था जिसके कारण स्नेहादि कोमल गुणों की उत्पत्ति होती है, या उत्सुकता का भाव, जिसने उन्हें कृष्ण की रहस्य लीलाएँ गाने को बाधित किया। उनकी सुन्दरतम कविताओं में न पलायन-वृत्ति है, न अंतर्मुखी द्वन्द्व की प्रवृत्ति, न आत्मघृणा-भाव, न अधीनता, न अस्तित्व-स्थापन। उनकी भक्ति रागात्मक

भक्ति है। उसकी तटस्थ भाव से इस लीला में भाग लेने और उसको आत्मा में अनुभव करने की भावना ही इसे भक्त बना देती है। कबीर कहते हैं---

बालम आयो गेह रे

गोपियों का भाव इसी प्रकार यों है—

आज मेरे धाम आये री नागर नंदकिशोर
धन दिवस धन रात री सजनी धन माय सखी मोर
मंगल गावो चौक पुरावो बदनवार बँधावो पौर
नंददास प्रभु संग रस-बस कर जागत करहूँ भोर

दोनों में कोई अंतर नहीं है। स्पष्ट है कि इस प्रकार भक्त-काव्य में लौकिक शृंगार का पर्यावसान हो जाता है और इंद्रिय सुख अतीन्द्रिय संकल्पनात्मक आनंद बन जाता है। जहाँ आलंबन निर्गुण ब्रह्म है या साधक भावना के अतिरेक के कारण अन्यतम रूप से अंतर्मुख हो गया है, वहाँ यही भक्तिवाद रहस्यवाद का रूप ग्रहण कर लेता है। इस तरह हम देखते हैं कि एक ही शृंगार भाव आलंबन-भेद और रचयिता की मूल मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के कारण लौकिक शृंगार, भक्ति और रहस्यवाद के काव्य का सृजन करता है।

अन्य रस

परन्तु साहित्य करुणा और शृंगार पर ही समाप्त नहीं हो जाता। अन्य रस भी अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं। व्यापक सहानुभूति और रति की भावना के बाद प्रसार की दृष्टि से उत्साह भाव की ही प्रमुखता मिलती है। यही उत्साह कालांतर में वीररस में परिवर्तित होता

है। लौकिक अर्थ में वीर का तात्पर्य युद्धवीर से होता है, परन्तु सभ्यता के विकास के साथ वीरता के अर्थों में भी विस्तार होता गया है। दयावीर और दानवीर इस बात के प्रमाण हैं। आधुनिक समय में अंतर्वृत्तियों का विशेष परिमार्जन हो गया है और जीवन के ऐसे अनेक क्षेत्र खुल गये हैं जिन्हें हम साहित्य में स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते। उदाहरण के लिए, प्रेमचंद के गोदान का 'होरी'। प्राचीन अर्थों में 'होरी' साहित्य का विषय ही नहीं है। जिस धीरोदात्त नायक की कल्पना और महिमा से हमारा संस्कृत काव्य भूषित है, उससे 'होरी' भिन्न है। परन्तु 'होरी' में वीरोचित भावना की कमी है, यह कोई नहीं कह सकेगा। प्रतिदिन के अपने साधारण कृषक गृहस्थ जीवन की कठिनाइयों का जिस दृढ़ता से सामना उसने किया, वह वीरकाव्य या महाकाव्य का ही विषय हो सकता था। इसी से हम आधुनिक महान उपन्यासों को 'महाकाव्य' की संज्ञा देते हैं। अपनी अंतःवृत्तियों से लड़ने वाला साधक अपनी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों से जूझने वाला लेखक भी आज का 'हीरो' है। रौद्र, भयानक और वीभत्स रस प्राचीन शास्त्रकारों द्वारा वीररस के अभिन्न सहयोगी माने गये हैं, परन्तु आज जब वीर-भावना का इतना परिमार्जन हो गया है और वीरता युद्ध-क्षेत्र से बाहर निकल कर सारे जीवन में व्याप्त हो गई है, इन रसों का भाव बहुत गिर गया है।

परन्तु हास्य रस और अद्‌भुत रस आज भी उसी तरह हमारा मनोरंजन करते हैं। विज्ञान के प्रचार के साथ हमारी 'अद्‌भुत' की भावना को चाहे कुछ धक्का लगे, परन्तु स्वयं विज्ञान और प्रकृति जो अपने-अपने नये रूप हमारे सामने खोल रहे हैं, वह अपनी नूतनता के कारण ही अद्‌भुत होंगे। यह शोक का विषय है कि हमारे साहित्य में

उच्च कोटि के 'हास्य' का विकास अभी नहीं हो पाया है, परन्तु सामाजिक विषमताओं और महान क्रांतियों के इन दिनों में काव्य और इतर साहित्य में हास्य रस के क्षेत्र में अनेक-अनेक प्रयोग संभव हैं।

छंद

कविता में छंद का क्या महत्व हो, यह विषय विवादास्पद है। वास्तव में कविता का प्राण उदात्त भाव, उनके प्रकाशन की अलंकारिक भावमयी शैली और संगीतात्मकता है। ऋग्वेद और उपनिषदों का गद्य भी कविता से कुछ भिन्न नहीं है। आधुनिक युग में "गद्यगीत" इस बात का प्रमाण है कि कविता को छन्दबद्ध पद्य तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। जब से अमरीका के प्रसिद्ध कवि Walt Whitman ने अपने प्रसिद्ध काव्य संग्रह Leaves of the Grass में अतुकांत पद्य का प्रयोग किया, तब से आज तक कविता की छंदबद्धता के विरुद्ध बराबर आंदोलन होते रहे हैं और स्वयं हिंदी में 'निराला' और 'प्रसाद' ने अतुकांत पद्य का सफल प्रयोग किया है। कुछ आलोचकों का कहना है कि यदि हमारी कविता को विज्ञान के साथ कंधा मिला कर चलना है, यदि आज के विज्ञानमय उद्योग-प्रधान युग का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व उसे करना है, तो उसे छंदों का बन्धन तोड़ना होगा और वह गद्य से भिन्न नहीं रह जायगी।

जो हो, अभी तो यह निश्चित है कि कविता में छंद, तुक, लय सभी का महत्व बहुत दिनों तक रहेगा। कविता का प्राण छंद नहीं सही, परंतु वह काव्यात्मक भाव को एक विशेष प्रकार से संतुलन प्रदान करता है और उसे कलात्मक और सुंदर बनाता है। आधुनिक हिंदी काव्य में जो अनेक कलात्मक छंद आविष्कृत हुए हैं, वह कविता में छंद की आवश्यकता के प्रमाण हैं। नये युग के कवियों ने अपने समय की अनुभूति को सबसे

सुन्दर ढंग से प्रकाशित करने की चेष्टा की है और इस चेष्टा में उन्हें प्राचीन छंदों को मिलाकर नये-नये छंद गढ़ना पड़े हैं। 'वृत्तप्रस्तार' के अनुरूप वे हों या न हों, यदि वे अपने विषय को सब से सुन्दर ढंग से प्रकाशित कर सके तो हम उन्हें असफल नहीं कह सकते। पंत, निराला, प्रसाद और महादेवी के काव्य में छंदों का नवीन इतिहास मिलेगा। संस्कृत छंदों को खड़ी बोली की संस्कृति देने में ये कवि सफल हुए हैं।

समाज पर कविता का प्रभाव

समाज पर कविता का प्रभाव आँकना बड़ा कठिन कार्य है। निश्चय ही यह वैसा काम नहीं है जैसा जन-सख्या के आँकड़े तैयार करना। समाज पर साहित्य का क्या प्रभाव पड़ता है, कितना प्रभाव पड़ सकता है, किन परिस्थितियों में प्रभाव अधिक पड़ता है, किनमें कम, इन महत्वपूर्ण बातों का अनुसन्धान नहीं हुआ है। ऐसी दशा में निश्चय रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, वस्तुस्थिति की एक रूपरेखा मात्र बनाई जा सकती है।

समाज व्यक्तियों का समूह है। प्रत्येक समाज के व्यक्ति पाठ्य-पुस्तकों में और मनोरंजन के रूप में कविता पढ़ते भी हैं। अत. व्यक्तियों पर और उनके द्वारा समाज पर कविता का प्रभाव पड़ना आवश्यक है। परन्तु कठिनाई यह है कि उस प्रभाव की दिशा क्या है, मात्रा क्या है, कहाँ उस प्रभाव को ढूँढ़ा जाये। अपने साहित्य और देश की बात तो हम समझते हैं और उससे हम यह निष्कर्ष निकालने के लिए स्वतंत्र हैं कि हमारे देश की जनता भाव-प्रवण है, अधिक भौतिक नहीं है, उस पर काव्य का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा है, अब भी पड़ता है। परन्तु व्यापक रूप से यह कहना कठिन है कि विलायती समाज पर भी कविता

का प्रभाव पड़ता है क्योंकि वहाँ कविता की अपेक्षा उपन्यास-कहानियाँ अधिक पढ़ी जाती हैं। विलायती समाज इतना भाव-प्रवण भी नहीं है जितना हमारा समाज।

हमारे समाज में कवि और काव्य की प्रतिष्ठा इतिहास पूर्व काल से चली आती है। वेद, उपनिषद्, पुराण, धर्मशास्त्र, महाभारत और रामायण जैसे महाकाव्य और गीता जैसे श्रेष्ठ दर्शन-ग्रंथ कविता के रूप में ही हमारे सामने आये। हमारी धर्मप्राण जनता में आज भी इन ग्रंथों का इतना महत्व है जितना अन्य ग्रंथों का नहीं। वास्तव में जनता का एक बड़ा भाग काव्य के रूप में किसी समय में इन्हीं ग्रंथों को मानता-जानता था। परन्तु यह कहना कठिन नहीं है कि इन ग्रंथों का प्रभाव समाज पर काव्य-तत्वों के कारण नहीं पड़ा, वरन् इनके विषय के कारण। हमारे मनीषियों ने अपनी धर्म-भावना और तत्त्वचिंता को काव्य के माध्यम में प्रगट किया और जनता ने उन्हें स्वीकार किया। पुराणों और महाकाव्यों में रस की मात्रा भी पर्याप्त थी और उसमें जनता को आकर्षित करने की शक्ति थी। साधारण जनता तक यही दो अधिक पहुँचे और उनके काव्यतत्त्व ने भी समाज पर उतना ही प्रभाव डाला जितना धर्मतत्त्व ने। जैसे-जैसे समय बीतता गया, समाज ने उसके काव्यतत्त्व और धर्मचिंतन को आत्मसात कर लिया। आज समाज रामायण और महाभारत की कथा से बहुत कुछ पा गया है, परन्तु राम, सीता, लक्ष्मण, हनुमान और भरत के आदर्श और कृष्ण-सुदामा की मित्रता जैसे आदर्शों के प्रति श्रद्धा और उन आदर्शों को जीवन में उतारने की भावना के अतिरिक्त निश्चित रूप से और क्या मिला है, यह कहना कठिन है। हाँ, रामभक्ति और कृष्णभक्ति मिली है, अवतार-पूजा मिली है, पूर्वजों के

गौरव गान से जो बल मिलता है वह बल मिला है, परन्तु इन सबको कविता के रस से किस प्रकार संबंधित किया जाय।

कविता की एक ही विशेषता है जो उतनी मात्रा में साहित्य के और किसी भी अंग में नहीं है। वह विशेषता है रसोद्रेक और रसानुभूति द्वारा भावों का परिमार्जन। कविता जब जिह्वा से उतर कर आत्मा के साथ हिल-मिल जाती है तब वह भाव-संसार में क्रांति कर देती है। कठोर हृदय कोमल हो जाता है। चट्टान से रस के स्रोत बहने लगते हैं। भवभूति के उत्तररामचरित के पाठ के बाद किसका हृदय द्रवित न होगा? सूरदास के बालक कृष्ण के बालविनोद से परिचित पाठक प्रत्येक बालक के प्रति वात्सल्य-भाव रखेगा; उसके उठने-बैठने, गिरने-पड़ने का ध्यान रखेगा। बालक का हास उसके हृदयतंत्री के तारों को झंकार देगा। उसका कष्ट उसे रुला देगा। यही काव्य की सार्थकता है। आज भी आल्हा-ऊदल की युद्धवार्त्ता भारतीय हृदय को गर्व, गौरव और उत्साह से भर देती है। अल्हैत के स्वर के साथ वीर भाव आँखों में झूलने लगता है। कम से कम कबीर, सूरदास, तुलसीदास और जगनिक के काव्य के संबंध में हम यह अवश्य कह सकते हैं कि उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकार से भारतीय समाज की अनुभूति और धारणा को विकसित किया है और आज दिन भी समाज पर उनका अमिट प्रभाव है। समाज की वैराग्य-भावना, दरिद्रता में उच्चता की कल्पना, संसार की नश्वरता, वात्सल्य और शृंगार, भक्ति, आदर्श प्रेम और वीर-भावना आज भी इन्हीं कवियों के सहारे खड़ी है।

परन्तु जैसा हम पहले कह चुके हैं काव्य के प्रभाव की परीक्षा अभी नहीं हुई है। अभी हम यह भी नहीं समझते कि व्यक्ति के निर्माण में

काव्य का कितना हाथ रहता है और हम किस प्रकार व्यक्तित्व के निर्माण में कविता से सहारा ले सकते हैं। समाज तो अभी दूर है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि कविता ने सहस्रों को ऊपर उठाया है, सहस्रों को जीवन-ज्योति प्रदान की है, परन्तु कविता के विषय का इसमें कितना महत्व है, कविता की आत्मा रस का कितना हाथ है, यह आँकना नहीं हो सका है।

कविता : जीवन की आलोचना

अंग्रेज़ आलोचक मेथ्यू आर्नल्ड के वे शब्द आज प्रत्येक समीक्षक की लेखनी पर नाच रहे हैं—"काव्य जीवन की आलोचना है।" लोग कहते हैं, उत्कृष्ट काव्य जीवन के सत्य और सुन्दर का प्रतिरूप मात्र है। मेथ्यू आर्नल्ड ने कविता को "Criticism of Life" कहा तो, परन्तु उन्होंने कहीं भी इस उक्ति को विवेचनापूर्वक स्थापित नहीं किया, फलस्वरूप "जीवन की आलोचना काव्य किस रूप में है," इस संबन्ध में प्रतिदिन तर्क-वितर्क चलते रहते हैं।

वास्तव में आर्नल्ड ने इस युक्ति को कथाकाव्य के सम्बन्ध में प्रकाशित किया। होमर, गेटे, शेक्सपियर प्रभृति महाकाव्यकारों की कृतियों में मनुष्य जीवन के प्रति जो लोकोत्तर संदेश निहित है, उसी की ओर कवि का व्यंग है, यह निश्चित है। इन महाकवियों के प्रसंग में भी हम "आलोचना" शब्द का अर्थ उस प्रकार नहीं ले सकते जिस प्रकार का अर्थ हम राजनीति-पंडित या अर्थशास्त्री या साहित्यशास्त्री की आलोचना का लेते हैं। कारण, कि काव्य न राजनीति है, न अर्थशास्त्र है, न साहित्यशास्त्र। उसमें अभिधा कम है, व्यञ्जना अधिक। इन महाकवियों में से प्रत्येक ने उस समय का जीवन क्या था, कैसा होना

चाहिये, इस सम्बन्ध में सुबद्ध तर्कमंडित बात कोई भी नहीं कही। वैसे अपने समय के जीवन से उठकर एक आदर्श जीवन बनाने की भावना उनमें है।

हमें यह भी याद रखना चाहिये कि आर्नल्ड ने काव्य को Truth of substance भी कहा है; उसमें high poetic seriousness की भी वाञ्छनीयता प्रगट की है। उन्होंने और भी कहा है—"The high seriousness which comes from absolute sincerity"। फिर आर्नल्ड केवल कथात्मक काव्य के ही आलोचक नहीं हैं। उन्होंने ही गीतकार शेली के विषय में कहा है—"That beautiful spirit building his many-coloured haze of words and oimages pinnacled dim in that intense urge"। इन सब बातों का सामञ्जस्य होना चाहिये।

एक और शब्द है—"Poetic Truth" (कल्पना का सत्य और काव्य-सत्य)। प्रश्न यह है कि कल्पना के सम्बन्ध और जीवन के सम्बन्ध में क्या सम्बन्ध है? मनुष्य अपनी कल्पना को प्रमाणित करता हुआ जिस मनोहर स्वर्ग-सृष्टि का निर्माण करता है—जिसमें पाप का फल सदा ही बुरा है, पुण्य का फल सदैव सुन्दर है—उसकी ईश्वर की सृष्टि से सगत किस प्रकार बैठे? क्या कल्पना के स्वर्ग एकदम अवांछनीय हैं? क्या कवि ईश्वर की सृष्टि को दर्पण की तरह झलका भर दें?

जिस कल्पना में वास्तविक जीवन के प्रति कोई गहरी अनुभूति नहीं, जो हमारे परिचित जीवन पर आश्रित नहीं, जिसके पैर धरती पर टिकते ही नहीं, वह उद्देश्यहीन है, निरर्थक है। उस कविता में Absolute sincerity (सच्चाई) कहाँ होगी; high seriousness (गम्भीरता)

कहाँ; वह Truth of substance (सृष्टि का रहस्यतत्त्व) से अनुप्राणित ही नहीं। परन्तु आर्नल्ड कविता को विचारात्मक जीवन-दर्शन से ऊपर उठा देखना चाहते हैं, यह भी निश्चय है। उनकी ही उक्ति है—"For supreme practical success more is required than the powerful application of ideas to life. It must be an application under the condition fixed by the laws of poetic truth and poetic beauty।" स्पष्ट है, आर्नल्ड भी कविता को उस हठ से एक मात्र जीवन का आलोचक नहीं मानते हैं, जिस हठ पर कई आधुनिक आलोचक अड़े हैं।

आर्नल्ड का मंतव्य इतना ही है कि कविता भावविलास मात्र, कल्पनाविलास मात्र एवं चिंताविलास मात्र नहीं है। महान् कवि के अंतर्जगत और वहिर्जगत् में पूर्ण सामञ्जस्य रहता है। जो कवि जीवन और जगत् व्यवहार से परिचित नहीं है, जिसने रहस्य-सृष्टि की उपेक्षा की, जागृत प्रत्यक्ष की अवहेलना कर जो अपने स्वतः संचित मोह-विकार और स्वप्न-विलास के मायाजाल में फँस गया है, उसे काव्य के सत्य की अनुभूति नहीं हो सकती और वह उत्कृष्ट काव्य की रचना नहीं कर सकता। हमारे देश में एक वर्ग ने कवि-कर्म को कौशल माना है। उसने काव्यवस्तु अर्थात् काव्य के अंतरंग को प्रधानता न देकर उसके वहिरंग को श्रेष्ठता दी है। उसके लिए अलंकार ही सब कुछ हैं। यदि हम आर्नल्ड की उक्ति रख सकते हैं तो यों कि कविता अलंकारों से भिन्न है, कि वह निरुद्देश्य नहीं है, कि केवल अलंकार और विभानुभाव के ढाँचों में बँधकर पद्य कविता नहीं हो जाता। इसके अतिरिक्त इस प्रसिद्ध उक्ति में और कुछ तथ्य नहीं है।

काव्य की कसौटी

उत्कृष्ट काव्य के क्या गुण हैं, हीन काव्य और उत्कृष्ट काव्य में क्या भेद होंगे, हम कैसे जानें कि एक विशेष काव्य-ग्रंथ उत्कृष्ट है या हीन! सोना खरा है या खोटा, खोटा है तो मिलावट कितनी, यह जानने के लिए जिस प्रकार कसौटी की आवश्यकता है उसी प्रकार काव्य को कसने के लिए भी कोई कसौटी चाहिये। यह कसौटी क्या हो?

हमारे साहित्याचार्यों ने इसका बहुत ठीक उत्तर दिया है। काव्य की कसौटी है सहृदय पाठक या रसिक हृदय। उसे किसी विशेष परीक्षा की आवश्यकता नहीं। काव्य पढ़कर या सुनकर वह एकदम कह देता है कि कविता किस श्रेणी की है। वह उसके हृदय को कितना छूती है, उसके सामने इतनी ही बात है। सुसंस्कृत रसिक हृदय पाठक से बड़ी कसौटी कोई दूसरी नहीं हो सकती। परन्तु साहित्य-शास्त्रियों को तो रसिक हृदय पाठक के लिए कुछ कहना ही नहीं है। वे उसके और उसके काव्य के बीच में नहीं आते। परन्तु सभी तो रसज्ञ नहीं होते। सभी रसिक हृदय एक जैसे सुसंस्कृत भी नहीं होते। इसीलिए काव्य के लिए ऐसी कसौटी की आवश्यकता होती है जिसे रसिक और अरसिक एक समान प्रयोग में ला सकें।

जब इस तरह की कोई निश्चित कसौटी बताने की बात आती है तो साहित्य-शास्त्री बड़ी कठिनाई में पड़ जाता है। काव्य-समीक्षा के लिए किसी एक निश्चित सिद्धान्त में नहीं पहुँचा जा सकता। जीवन की भाँति काव्य की श्रेष्ठता भी पकड़ में नहीं आती। उदाहरण के लिए, तुलसी का रामचरितमानस क्यों हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ काव्य ग्रंथ है, यह

कहना कठिन है। रसवादी कहेंगे—अयोध्याकांड के कारण। मनोवैज्ञानिक कहेंगे—ठीक, अयोध्याकांड के पूर्वार्द्ध के कारण ही तुलसी इतने महत् हैं। अलंकारवादी कहेंगे—रामचरितमानस का रूपक, लक्ष्मी का रूपक, रामरथ और विज्ञानदीपक के रूपक कितने चमत्कारी स्थल हैं। रीतिवादी उसके प्रसाद और माधुर्य की दुहाई देगा। वक्रोक्तिवादी और ध्वनिवादी मुँह ताकता रह जायगा। इन्हें तुलसी के अभिधाप्रधान, प्रसाद-गुण-सम्पन्न काव्य में अपने मन की वस्तु नहीं मिलेगी। पण्डित पाठक उत्तरकांड को रामचरितमानस का प्राण बतायेंगे। भक्तपाठक के लिए तो संपूर्ण ग्रंथ ही ईश्वर का चमत्कार है। उसको तो रस लेना है। समीक्षा करना पाप है। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य की कसौटी निर्धारित करने में कठिनाई कहाँ है।

जिन 'वादों' के समर्थकों को हमने ऊपर इकट्ठा किया है, वे काव्य को पूरा-पूरा पकड़ नहीं पाते। यद्यपि वे कहते यही हैं कि उनके निश्चित घेरे में जो आ गया, वही श्रेष्ठ काव्य है। हमारे यहाँ काव्य के समीक्षकों के पाँच सम्प्रदाय चल रहे हैं। पंडितराज जगन्नाथ रमणीय अर्थ को काव्य मानते हैं। विश्वनाथ रस को, उद्भट अलंकार को, कुंतक वक्रोक्ति को, वामन रीति को। इन मापदंडों के सहारे ही क्रमशः ध्वनि-सम्प्रदाय, रस-सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय और रीति-सम्प्रदाय चल पड़े। तर्क-वितर्क चल पड़े। सब तो ठीक हो नहीं सकते। अतः ठीक मत कौन है। परन्तु अभी तक निश्चय कुछ भी नहीं हो सका है।

वास्तव में हठ नहीं होना चाहिये। सच तो यह है कि श्रेष्ठ काव्य में इन सभी "वादों" की परिसमाप्ति हो जाती है और फिर भी काव्य

उलझे प्रश्न की तरह बना ही रहता है। रीति, अलंकार और वक्रोक्ति को हम शैलियाँ मान सकते हैं। काव्य में शैली का भी महत्त्व है, अतः उसी सीमा तक ये काव्य की कसौटियाँ हैं। परन्तु न रीति ही काव्य है, न अलंकार ही, न वक्रोक्ति ही यद्यपि काव्य इन सबसे या इनमें से किसी से पुष्ट हो सकता है। तब यह प्रश्न होगा कि इनसे भिन्न काव्य क्या है? क्या ध्वनि? क्या रस? कुछ आचार्य काव्य को "ध्वनि-मात्र" मानते हैं, कुछ "रस-मात्र"। परन्तु परवर्ती आचार्यों ने समझौता कर लिया जो इस प्रकार है—काव्य की आत्मा रस है और रस "व्यंजित" या "ध्वनित" होता है। इस प्रकार ध्वनिवादी और रसवादी हिलमिल कर काव्य की एक सर्वमान्य कसौटी गढ़ने में सफल हो गये हैं।

जब इस प्रकार एक सामान्य कसौटी की सृष्टि हो गई तो विश्लेषण को और आगे बढ़ाया गया। भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की योजना को ही काव्य समझ लिया गया। सब न हो सकें तो एक तो होगा ही। नवरसों की कल्पना की गई और उनमें शृंगार रति-भाव-प्रधान रस को "रसराज" मान लिया गया। "रस" के चौखटे के बाहर जो रहा, वह अग्राह्य हो गया। प्रकृति को उद्दीपन विभाव के अन्दर ले आया गया। बौद्धिक तत्त्वों का स्थान गौण ही नहीं रहा, वरन् उसकी पूछ ही नहीं रही। "रस" का सम्बन्ध हृदय से है अतः हृदय की प्रधानता है। जिज्ञासा की तृप्ति कविता का विषय नहीं है। कवि को बुद्धिवादी नहीं होना चाहिये। परन्तु कवि को तो कोई बन्धन बाँधता नहीं। सूरदास ने एक नये ही प्रकार की कविता उपस्थित की जिसका मूल भाव बालक कृष्ण के प्रति नन्द-यशोदा का प्रेम-भाव था। इसके लिये "वात्सल्य रस" की सृष्टि करनी पड़ी। फिर भक्ति-

काव्य के लिए भक्तिरस ने जन्म लिया। अब यह प्रश्न उठा है कि वैराग्य-मूलक संतकाव्य में क्या रस है? संतों के रहस्यवादी काव्य में क्या रस है? पुकार हो रही है, रसों में वृद्धि की जाय, स्वीकृत रसों की भावना में परिष्कार हो। समय बदल गया है। यह स्पष्ट है कि रसवाद भी काव्य की एकमात्र कसौटी नहीं बन सका।

अब समय अवश्य बदल गया है। प्रकृति को काव्य में स्वतन्त्र रूप से स्थान दिया जाने लगा है, मानव-स्वतन्त्रता और विश्व-बन्धुत्व को विषय बनाया जा रहा है। कविता हृदय को ही नहीं छूती, मस्तिष्क को भी छूती है। इस प्रकार की कविताएँ भी सामने आने लगी हैं जो केवल मस्तिष्क को ही छूती हैं। अब "रसवाद" भी अधिक नहीं चल सकेगा। काव्य में जिन बौद्धिक तत्त्वों का प्रवेश हो गया है उन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

ऐसी परिस्थिति में क्या कोई काव्य की सामान्य कसौटी गढ़ी जा सकती है, यह प्रश्न है। अभी तक तो गढ़ी नहीं गई। हम प्राच्य वाले रस, ध्वनि, अलंकार, रीति और वक्रोक्ति को लेकर थोड़ी-बहुत उधेड़बुन में संतोष कर लेते हैं; पश्चिम के समीक्षक "Poetry is Criticism of Life", "Poetry for poetry's Sake", "Poetry is Art" जैसे एकांगी सिद्धान्तों को ही ब्रह्मवाक्य मानकर बैठ जाते हैं।

४

नाटक

नाटक और समाज

नाटक और समाज का अन्योन्याश्रित संबंध है। समाज के बिना नाटक की अवस्थिति असंभव है और नाटक समाज के सदस्यों के सामने आये बिना नाटक नहीं बन सकता। साहित्य का कोई अंग समाज पर इतना आश्रित नहीं है जितना नाटक। उपन्यास, कविता, कहानी इनका समाज से कोई सीधा संबंध इस प्रकार का नहीं है जितना रंगमंच के द्वारा नाटक का। उपन्यास, कविता और कहानी शब्दकाव्य या पाठ्य-काव्य के अंतर्गत आते हैं। नाटक दृश्य-काव्य है। उसके लिये प्रेक्षक के रूप में समाज की उपस्थिति आवश्यक है। नाटककार समाज से संबोधन करता है, उसकी ही भाषा का प्रयोग करता है, प्रत्येक प्रकार यही चेष्टा करता है कि प्रेक्षक के लिए वह सुगम हो। उसके साहित्य के रक्त, मांस, मज्जा सब चारों ओर के सामाजिक उपादानों से इकट्ठे किये जाते हैं। यही नहीं उसके पात्र नाट्य करते हुए अपने को प्रेक्षकों से अभिन्न सिद्ध कर दें, तभी वह सफल कहलाता है।

इस बात को नाटककारों और नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने बहुत पहले से समझ लिया था। वस्तुतः नाटक के आरम्भ और विकास का इतिहास समाज के विकास का ही इतिहास है। प्रारम्भिक नाटक उस

समय लिखे गये जब समाज धर्म पर आश्रित था और उन्होंने समाज में धर्म-भावना के प्रचार का काम किया। यात्रा, स्वाँग, रामलीला आदि के रूप में हमारे यहाँ धार्मिक भावना को प्रदर्शित और दृढ़ करने वाले नाटक आज भी हमारे बीच में चल रहे हैं। समाज को उन्होंने कितना प्रभावित किया है, यह उनकी लोकप्रियता से जाना जा सकता है। सच तो यह है कि प्राचीन भारत और प्राचीन यूनान में नाटक का जन्म धर्मकृत्यों के अवसरों पर ही हुआ और उपरांत उन्होंने समाज के नीति और धर्म-संबंधी भावों पर बड़ा प्रभाव डाला।

परन्तु कुछ दिनों बाद नाटक का महत्व केवल शास्त्रीय ही रह गया। जनता में धर्मप्राण स्वाँग, यात्रा प्रभृति चीज़ें चलती रहीं, परन्तु ऊपर की जनता में नाटक साहित्य की वस्तु हो गया। परन्तु उस समय भी उसका अभिनय होता था और वह उच्च वर्गीय जनता को, जो प्रेक्षकों के रूप में उपस्थित होती थी, प्रभावित करता था। यह अवश्य है कि उसका क्षेत्र सीमित हो गया था। उसमें साहित्य की ऊँची विशेषताओं की प्रतिष्ठा हो गई थी और वह अधिक प्रभावोत्पादक भी हो गया। मध्ययुग में यूरोप में एक बार फिर नाटक और जनता का संबंध स्थापित हुआ और जनता को शेक्सपिअर जैसा बड़ा कलाकार मिला। तब से अब तक मौलियर और इब्सन प्रभृति पाश्चात्य नाटककारों के माध्यम से नाटक साहित्य के ऊँचे भावों का रक्षा करते हुए भी साधारण जनता की ओर अग्रसर होता गया है। आज नाटक बहुत कुछ समाज की अत्यंत निकट की वस्तु है। सिनेमा के रूप में उसका प्रभाव लक्ष-लक्ष मनुष्यों पर पड़ रहा है और समाज का मनोरंजन ही नहीं, बनना और बिगड़ना भी उसके हाथ में है।

यदि हम अब तक के नाटक और समाज के संबंध का विश्लेषण करें तो हमें तीन प्रकार के संबंध दिखलाई पड़ेंगे। पहला संबंध मनोरंजन का है। यही संबंध सबसे महत्वपूर्ण है। नाटक को समाज ने मुख्यतः सदैव ही मनोरंजन के रूप में देखा है, धर्म-प्रचार, समाज-सुधार आदि गौण रहे हैं। आज भी प्रेक्षक नाट्य भवन में केवल मनोरंजन के उद्देश्य से जाता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि नाटककार केवल शुद्ध मनोरंजन तक ही अपनी दृष्टि को सीमित रखे। इसी से बहुत पहले से नाटक और समाज का एक दूसरे प्रकार का भी संबंध रहा है। वह है धर्म, नीति अथवा आदर्श के प्रचार का। अधिकांश प्राचीन नाटकों की सामग्री धर्म अथवा नीति के क्षेत्रों से ली गई है। आधुनिक काल में इब्सन, बर्नार्डशा और मौलियर जैसे नाटककारों ने समाज के प्रति विरोध की भावना को नाटक का विषय बना कर नाटक और समाज का एक तीसरा संबंध स्थापित किया है। यह संबंध है समाज की आलोचना द्वारा उसके सुधार का प्रयत्न। यही कारण है, आज के नाटक बुद्धि-प्रधान और व्यंगात्मक हैं। उनका उद्देश्य ही समाज की वस्तुस्थिति को अस्वीकार करके उसके मर्म पर चोट करना होता है। परन्तु धीरे-धीरे नाटक समाज से भी आगे बढ़ा है। उसने राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय और सार्वभौमिक समस्याओं को अपना विषय बनाया है। आज उसके हाथ में क्रांति के अस्त्र-शस्त्र पहुँच गये हैं और समाज के द्वारा वह अपनी अभिव्यक्ति चाहने लगा है। आज का नाटककार समाज का विरोधी, विद्रोही और क्रांतिद्रष्टा है। वही समाज को विकास के प्रगतिशील पथ पर बढ़ा रहा है। इस तरह जहाँ कभी समाज के धर्म, नीति और आचार-संबंधी विचार नाटक को अनुप्राणित करते थे,

नाटक केवल उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम होता था, वहाँ आज नाटक के विचार और भाव समाज में क्रांति के बीज बोकर उसे परिवर्तन के पथ पर बढ़ने के लिए विवश करते हैं। आज साहित्य के विभिन्न अंगों में न कोई इतना प्रगतिशील है जितना नाटक है, न कोई इतना प्रभावशाली ही है।

समाज पर नाटक के प्रभाव को आँकने से पहले हम व्यक्ति पर नाटक के प्रभाव को आँकना होगा। समाज व्यक्तियों का ही समूह है। प्रेक्षक भी व्यक्ति है। उसी के द्वारा नाटक समाज पर प्रभाव डालता है। हमें देखना है कि साधारण रूप से यह प्रक्रिया कैसे होती है। प्राचीन नाटककार व्यक्ति तक ही सीमित रहते थे। वे समाज की बात कम सोचते थे। अरस्तू ने अधिक-से-अधिक "Purgation" की बात सोची है। हमारे नाट्याचार्यों ने भी रसाभिव्यक्ति को ही प्रधानता दी है। अरस्तू के विचार से नाटक मनुष्य के मूल भावों की अभिव्यंजना द्वारा उसके मनोविकारों को अप्रत्यक्ष रूप से बाहर निकलने का मौका देता है और फिर व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में प्रेक्षक अधिक सभ्य और सहनशील हो जाता है। हमारे यहाँ भी नाटक से भावनाओं के परिष्कार की बात सोची गई थी। इसीलिए आदर्शवाद की प्रधानता थी। लोक-कल्याण की भावना ने प्राचीन नाटककारों के लिए अनेक बंधन गढ़ दिये थे। सुरुचिपूर्ण दृश्य रंगमंच के योग्य नहीं समझे जाते थे। इसी भावना के वश भारतीय नाटककार दुखांत Tragedy को अच्छा नहीं समझते थे। सुखांत के साथ ही पटाक्षेप भले ही सर्वदा विश्वसनीय नहीं हो, वह प्रेक्षक को आशा, आनंद और उत्साह से भरेगा, इसमें संदेह नहीं। इसीलिए 'देवदास' जैसे आधुनिक आत्मपीड़ित नायक संस्कृत

साहित्य में नहीं मिलेंगे। समाज के कल्याण अथवा लोककल्याण की भावना पश्चिम में भी है। अंग्रेज़ी रोमांटिक कवि शेली (Shelley) ने एक स्थान पर ठीक ही कहा है—"काव्य का समाज के कल्याग के साथ जो संबंध है, वह नाटक में सबसे अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। इस बात में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि समाज जितना ही उन्नत होता है, उसकी रंगशाला भी उतनी ही उन्नत होती है। यदि किसी देश में किसी समय बहुत ही उच्च कोटि के नाटक रहे हों और पीछे से उन नाटकों का अंत हो गया हो, अथवा उनमें कुछ दोष आ गये हों, तो समझना चाहिए कि इसका कारण उस देश का उस समय का नैतिक पतन है।" इस प्रकार पूर्व और पश्चिम में एक ही प्रकार नाटक नैतिक श्रेष्ठता से गूँथ दिया गया है।

नाटक के भेद

संस्कृत आचार्यों ने नाट्य के दो भेद किये है—रूपक और उपरूपक। उपरूपकों में आंगिक अभिनय की प्रधानता रहती है। यूरोप में जिस तरह की चीजें Ballot और Opera हैं, उसी तरह की चीजें प्राचीन भारत में नृत्य, नृत्त आदि थीं। रूपकों में रस की प्रधानता रहती है और गीत और कथन (वार्तालाप = कथोपकथन) उसके महत्वपूर्ण अंग हैं। आंगिक अभिनय केवल उसी हद तक वांछनीय है जिस हद तक वह पात्रों के कथोपकथन और उनके मनोविज्ञान को सुस्पष्ट कर सके। उपरूपक के १८ भेद हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्य रासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेखण, रासक, संचालक, श्रागदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश और माणिका। इन सब भेदों-उपभेदों की जानकारी आज के नाटककार के लिए वांछनीय नहीं

समझी जाती। प्राचीन काल में सब के उदाहरण नहीं मिलते। अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि नाटक-रचना के व्यावहारिक अंग का इनसे कहाँ तक संबंध है। रूपक के दस भेद हैं और प्राचीन साहित्य में उनका काफ़ी प्रचार मिलता है। ये दस भेद इस प्रकार हैं—

(१) नाटक—अंक संख्या ५—१०। नायक धीरोदात्त, कुलीन, प्रतापी, दिव्य अथवा अदिव्य। शृंगार, वीर और करुण रस की प्रधानता होनी चाहिये।

(२) प्रकरण—अंक संख्या नाटक के समान। कथा कल्पित। शृंगार-रस-प्रधान।

(३) भाण—हास्यरस-प्रधान एकांकी। इस में धूर्तों और दुष्टों की खिल्ली उड़ाई जाती है। पात्र एक ही होता है। वह स्वयं ही प्रश्नोत्तर के द्वारा उपयुक्त रस का संचार करता है।

(४) व्यायोग—अंक संख्या १। आधुनिक एकांकी की भाँति इसमें भी आदि से अंत तक एक ही उद्देश्य की प्रधानता रहती है और एक ही दिन की कथा का वर्णन रहता है। वीररस-प्रधान।

(५) समवकार—अंक संख्या ३। इसमें १२ तक नायक होते हैं और सब नायकों की क्रियाओं का फल प्रथक-प्रथक होता है। यह भी वीररस-प्रधान है।

(६) डिम—अंक संख्या ४। नायकों की संख्या १६ तक सीमित रहती है। ये प्रायः दैत्य, राक्षस, गंधर्व, भूत, प्रेतादि होते हैं। अद्भुत और रौद्र रस की प्रधानता।

(७) ईहामृग—नाटक और इसमें विशेष अंतर यही है कि

इसमें नायिका नायक को प्राप्त नहीं होती, परन्तु वह स्वयं भी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता।

(८) अंक—एकांकी। यह करुण रस-प्रधान होता है।

(९) वीथी—एकांकी। नायक की संख्या एक ही तक सीमित है। श्रृंगार, हास्य और अद्भुत रस इस प्रकार के रूपक के विषय होते हैं।

(१०) प्रहसन—यह भाण से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इसमें हास्य रस की प्रधानता होती है और प्रकारांतर से शिक्षा (उपदेश) की भी योजना रहती है।

ऊपर रूपक के जो भेद बताये गये हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल में विषय, रस और पात्र की विभिन्नता के साथ रूपक के अनेक भेद हो जाते थे। उदाहरण के लिए भाण, अंक, व्यायोग, वीथी और प्रहसन चारों एकांकी हैं, परन्तु चारों में बड़ा भेद है। भाण में एक ही पात्र होता है, प्रहसन में इसी तरह की कोई सीमा निर्धारित नहीं की गई है। अतः प्रहसन में भाण की अपेक्षा रसपरिपाक की अधिक सुविधा है। व्यायोग, अंक और वीथी का भेद मूलतः रस वैभिन्न्य पर आश्रित है। व्यायोग में वीररस, अंक में करुण रस और वीथी में श्रृंगार, हास्य और अद्भुत रस प्रेक्षक के सम्मुख उपस्थित किये जाते हैं। आधुनिक एकांकी में इस प्रकार के भेद-प्रभेद नहीं मिलेंगे। कदाचित् इस प्रकार के सूक्ष्म भेद-प्रभेद वांछनीय भी नहीं हैं। भाण का तो आजकल प्रचलन है ही नहीं।

नाटक, प्रकरण, समावकार, डिम और ईहामृग में अंकों की संख्या ३ से १० तक होती है। समावकार में ३, डिम में ४ और प्रकरण, नाटक

और ईहामृग में ५ से १० तक अंक होते हैं। वास्तव में अंक-संख्या के न्यूनाधिक होने का कारण नाटकीय वस्तु की लघु सूक्ष्मता और दीर्घसूक्ष्मता ही है। इनमें सबसे अल्प संगठित कथावस्तु समावकार में मिलेगी। वास्तव में आधुनिक दृष्टि से उसे गंभीर नाटकीय प्रयत्न नहीं कहा जा सकता।

रस के दृष्टिकोण से ही कदाचित् यह भेद क्षम्य हैं। नाटक और और ईहामृग में शृङ्गार, वीर और करुण रस ; प्रकरण में शृङ्गार रस; समावकार में वीर रस और डिम में अद्भुत और रौद्ररस की प्रधानता रहती है। आधुनिक दृष्टिकोण से यह भेद महत्त्वपूर्ण नहीं है। कोई भी रस नाटक का विषय हो सकता है। परन्तु नाटक और ईहामृग में तत्त्वतः अन्तर जान पड़ता है। नाटक मूलतः सुखान्त है, ईहामृग दुःखांत, यद्यपि उसमें सुखान्त और दुखान्त के बीच समझौते की प्रवृत्ति ही अधिक जान पड़ती है।

प्राचीन नाटक मूलतः नायिका-सम्बन्धी नायक के प्रयत्न तक सीमित था। सामन्तयुग का प्रिय विषय यही था। आधुनिक युग में अनेक सामाजिक और ऐतिहासिक विषयों का योग नाटक को मिला है।

नाटक की कथावस्तु

परन्तु विषय चाहे कुछ हो, नाटक में एक विशेष ढंग से उसकी योजना होना आवश्यक है। नाटकीय कहानी का मूलतत्त्व किसी न किसी प्रकार का विरोध है। यह विरोध कथावस्तु में झलकना चाहिये। दो विरोधी भाव, पक्ष, सिद्धान्त, दल या व्यक्ति नाटक की कथावस्तु को बराबर बढ़ाते चलते हैं। सामान्यतः दो व्यक्ति (नायक और प्रतिनायक)

इन विरोधी तत्वों के प्रतीक बन जाते हैं। इसी से अधिकांश नाटकों में महात्मा और दुरात्मा, सच्चे वीर और दुष्ट बलवान, साधु और असाधु का विरोध चला करता है। सुखान्त नाटकों में साधुपक्ष की विजय और असाधु पक्ष की पराजय निश्चित है। दुखान्त नाटक में इसके विपरीत। परन्तु कलाप्राण नाटकों में यह संघर्ष मूलतः मन की भूमि में प्रतिष्ठित होता है। नायक को अपने ही तामस भावों का दमन करना पड़ता है और वह अपने ऊपर विजय प्राप्त करके ही सफल होता है। प्राचीन आदर्शवादी नाटकों में साधु नायक की पराजय या मृत्यु की बात ही अकल्पित थी। लोकजीवन में भले ही ऐसा होता हो, लोक-कल्याण के लिए यह बुरा समझा जाता था।

इस प्रकार प्राचीन नाटक में कथावस्तु का आदि-अंत स्थिर हो जाता था। जहाँ संघर्ष का आरम्भ है, वहाँ कथा का आरम्भ है। संघर्ष पर्यवसान या समाप्ति के साथ कथा भी समाप्त हो जाती है। इस प्रकार आदि-अंत के स्थिर हो जाने से बीच की कथावस्तु की योजना भी बहुत कुछ निश्चित हो जाती है। कथा के आरम्भ में परिस्थितियों का जो संघर्ष अथवा पात्रों का जो विरोध है, वह एक निश्चित सीमा तक बढ़ता जाता है। इस सीमा का व्यतिक्रम होते ही किसी एक पक्ष की जीत आरम्भ होने लगती थी। अन्त चाहे कुछ हो, कथा में द्वन्द की भावना पूर्णतयः चरितार्थ होनी चाहिये। अंत में एक निर्णयात्मक बिन्दु पर कथा पहुँच जाती है और फलस्वरूप वह बड़ी तेज़ी से अन्त की ओर बढ़ती है। इस तरह कथा के कई भाग हो जाते हैं। प्राचीनों ने नाटक की कथावस्तु को पाँच भागों में विभाजित किया है—

(१) आरम्भ

(२) प्रयत्न
(३) प्राप्त्याशा
(४) नियताप्ति
और (५) फलागम

कथानक के विभाजन की इस योजना में संघर्ष की भावना को अधिक महत्व नहीं मिला है। 'साहित्यालोचन' के विद्वान लेखक इस विभाजन पर विचार करते हुए लिखते हैं—"हमारे यहाँ के आचार्यों के अनुसार किसी प्रकार का फल प्राप्त करने की उत्कंठा होती है और उसी उत्कण्ठा से नाटक का आरम्भ होता है। उस फल की प्राप्ति के लिए जो व्यापार होता है, वह प्रयत्न कहलाता है। आगे चलकर उस फल की प्राप्ति की आशा होने लगती है जिसे प्राप्त्याशा कहते हैं। इसके उपरान्त विघ्नों का नाश हो जाता है और फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है, जिसे नियताप्ति कहते हैं; और सब के अंत में फल प्राप्ति होती है जो फलागम कहलाती है। इससे सिद्ध है कि हमारे यहाँ नाटकों में विरोध-भावना को कभी प्रधानता नहीं दी जाती थी और उनमें केवल उद्योग और सफलता का ही महत्व प्रतिपादित होता था। तो भी यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इन दोनों प्रकार के विभागों में, इस विरोध वाले तत्त्व को छोड़ कर, और कोई विशेष अन्तर नहीं है। आरम्भ और अन्त अथवा फलागम के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं है। शेष बीच की अवस्थाओं में भी कोई विशेष अन्तर नहीं है। एक में झगड़े का विकास होता है, दूसरे में फलसिद्धि के लिए यत्न होता है; एक में विजय का निश्चय आरम्भ होने लगता है और दूसरे में फलप्राप्ति का; एक में विजय निश्चित होती है और दूसरे में फलप्राप्ति। यदि दोनों

में कोई मुख्य अन्तर है तो वह यह कि पाश्चात्य विद्वानों से विरोध या संघर्ष को प्रधानता देकर अपने विषय को सीमा बहुत संकुचित कर दी है ; और हमारे यहाँ के आचार्यों ने अपना क्षेत्र बहुत विस्तृत रखा है।" परन्तु सच तो यह है कि नाटक का प्राण ही संघर्ष है। जहाँ विरोधी परिस्थितियों या पात्रों में तीव्र संघर्ष नहीं है, वहाँ रंगमंच पर खेले जाने पर नाटक कठपुतलियों का तमाशा-मात्र रह जायगा। प्राचीन संस्कृत नाटकों में नाटकीयता (संघर्ष-तत्त्व) की अपेक्षा काव्यात्मक वातावरण और आदर्शवाद (Poetic Justice) की प्रधानता थी। इन नाटकों में आज भी एक प्रकार का माधुर्य, एक विचित्र प्रकार का आकर्षण हमें मिल सकता है। गेटे ने ठीक ही कहा है कि कालिदास ने शकुन्तला में मृत्य-अमृत्य का बड़ा सुन्दर गठबन्धन किया है, परन्तु शकुन्तला का मूल आकर्षण नाटकीय संघर्ष में नहीं है। शेक्सपियर की रचनाओं में कथावस्तु जिस प्रकार संगठित है, उस प्रकार का संगठन, उस प्रकार का कलात्मक संघर्ष कालिदास में नहीं मिलेगा। वास्तव में आधुनिक नाटक प्राचीन संस्कृत नाटक की परम्परा का विकास नहीं है। वह एकदम नई चीज़ है। प्राचीन नाटक-सिद्धान्तों के आधार पर उसकी व्याख्या करना भ्रामक होगा। हमारे अनेक आलोचक इस भ्रम के शिकार हैं।

परन्तु यह आवश्यक नहीं कि कोई भी कथा एक बार शुरू होकर अंत तक उसी तरह अविच्छिन्न चली जाय। संभव है, मुख्य कथानक को बल देने के लिए कोई अवान्तर प्रसंग आये या कथा को विशेष ढंग से बढ़ाने के लिये किसी चमत्कारी अंश की योजना की गई हो। कदाचित् इसी प्रकार की सम्भावना के कारण संस्कृत नाटक में अर्थप्रकृति

की योजना की गई है। 'अर्थप्रकृति' के पाँच भेद हैं—१. बीज, २. बिंदु, ३. पताका, ४. प्रकरी, ५. कार्य। पताका और प्रकरी प्रासंगिक कथा के दो उपभेद हैं। 'पताका' में कथा बराबर चलती है। परन्तु प्रकरी में वह रुक-रुक कर आगे बढ़ती है। इस प्रकार 'पताका' में प्रासंगिक कथा एक ही स्थान पर संगठित रहती है; 'प्रकरी' में मुख्य कथा और प्रासंगिक कथा की एक शृङ्खला-सी बन जाती है। 'बिंदु' का सम्बन्ध भी अवांतर कथा से है। 'बिंदु' वह बात है जो निमित्त बन कर समाप्त होने वाली अवान्तर कथा को आगे बढ़ाती है और प्रधान कथा से उसका सम्बन्ध जोड़ती है। 'बीज' और 'कार्य' का सम्बन्ध अधिकारिक (मुख्य) कथा से है। मुख्य कथा जिस संघर्ष, हेतु या परिस्थिति-वैषम्य पर आश्रित है, उसे 'बीज' कहेंगे। 'कार्य' वह महत्वपूर्ण घटना है जिसके फलस्वरूप फलागम की प्राप्ति होती है।

जान पड़ता है, बाद के आचार्यों ने कथावस्तु के विभाजन और 'अर्थप्रकृति' के पाँच भेदों को एक दूसरे पर आश्रित समझ लिया। उनके अनुसार कार्य व्यापार की अवस्था और अर्थप्रकृति में एक अनिवार्य सम्बन्ध है—

आरम्भ—बीज
प्रयत्न—बिंदु
प्राप्त्याशा—पताका
नियताप्ति—प्रकरी
फलागम—कार्य

यह सम्भव है कि कुछ विशेष अवस्थाओं में ऐसा हो, परन्तु सभी जगह ऐसा होना आवश्यक नहीं है। 'पताका' और 'प्रकरी' का एक

ही नाटक में आ जाना स्वाभाविक नहीं जान पड़ता जब तक किसी नाटक में दो प्रासंगिक कथायें न हों। परन्तु जब कार्यव्यापार और 'अर्थप्रकृति' में सम्बन्ध जोड़ लिया गया तो इस जोड़ को सार्थ बनाने के लिए संधियों की योजना हुई। ये संधियाँ भी पाँच हुईं—(१) मुख (२) प्रति-मुख (३) गर्भ (४) विमर्श (५) निर्वहण। कार्यव्यापार की अवस्थाओं और अर्थप्रकृतियों के बीच में इन संधियों की स्थापना इस प्रकार है—

आरम्भ—	मुख—	बीज
प्रयत्न—	प्रतिमुख—	बिंदु
प्राप्त्याशा—	गर्भ—	पताका
नियताप्ति—	विमर्श—	प्रकरी
फलागम—	निर्वहण—	कार्य

वास्तव में इस प्रकार की योजना कल्पना-क्लिष्ट है। इसी से प्राचीन उत्तम नाटकों में भी इस योजना का निर्वाह नहीं हो पाया है। आज के नाटककार को इस योजना के अनुसार अपनी कथावस्तु गढ़नी पड़े तो वह रंगमंच पर अधिक सफल नहीं होगी, ऐसा निश्चित है। आज तो नाटककार मुख्य कथा को लेकर ही चलता है। प्रासंगिक कथावस्तु का आग्रह उसे नहीं रहता। जहाँ ५ से १० तक अंकों की संख्या की योजना हो, वहाँ अधिकारिक वस्तु के साथ प्रासंगिक वस्तु का चलना आवश्यक बात है। परन्तु जहाँ प्रेक्षक को २—२½ घन्टे बैठना है और नाटक को केवल तीन अङ्कों में समाप्त होना है, वहाँ प्रासंगिक वस्तु कैसे चलेगी और इन संधियों की क्या आवश्यकता पड़ेगी। सच तो यह है कि आज की नाटक-रचना प्राचीन नाटक-सिद्धान्त पर आश्रित

नहीं हो सकती। उसमें कार्यव्यापार की पाँचों अवस्थायें तो अवश्य रहेंगी, परन्तु कथा केवल अधिकारिक और अधिक संगठित होने के कारण अर्थप्रकृति और संधियों की योजना नहीं होगी।

नाटक के तत्त्व

ऊपर हमने नाटक की कथावस्तु की विशद विवेचना की है। परन्तु कथावस्तु नाटक के अनेक महत्वपूर्ण अंगों में से एक अंग मात्र है। नाटक के अन्य अंग हैं—पात्र, कथोपकथन, देश-काल (वातावरण) शैली और उद्देश्य। प्राचीन साहित्य-शास्त्री वस्तु, नायक और रस को नाटक के तीन आवश्यक अंग मानते हैं। परन्तु आधुनिक नाटककार नाटक को नायक-नायिका का खिलवाड़ नहीं बनाता। वह रस को काव्य का अनिवार्य अंग मानता है, परन्तु नाटक में रस-परिपाक के साथ-साथ बुद्धितत्त्व का भी समावेश आवश्यक समझता है। प्राचीन नाटक-कारों ने कथावस्तु की तो बड़ी विवेचना की है, परन्तु उन्होंने कथोपकथन पर विशेष विचार नहीं किया, यद्यपि नाटक का जन्म कथोपकथन से ही हुआ होगा। ऋग्वेद में सोम राजा के क्रय-विक्रय और सरमा-पणि को लेकर बड़े सुन्दर कथोपकथन हैं जिनमें नाटकीय गुण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। वास्तव में कथोपकथन के द्वारा ही नाटकीय वस्तु का विकास होता है। उसी के द्वारा अनेक नाटकीय गुणों की स्थापना होती है। इससे नाटक पर विचार करते हुए कथोपकथन को महत्व देना आवश्यक है। उपन्यास और नाटक के कथोपकथनों में महान् अंतर होता है। उपन्यास की कथावस्तु का विस्तार अधिक होता है, अतः लेखक वाग्विलास-मात्र के लिए भी कथोपकथन की सृष्टि कर सकता है। नाटक की कथावस्तु अधिक संगठित होती है और एक विशेष लक्ष्य की ओर बराबर

प्रवहमान। इसलिए उसमें वार्तालाप का प्रयोग अत्यन्त कलात्मक रूप से होगा।

देश-काल (वातावरण) की समस्या ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों में महत्त्वपूर्ण बन जाती है। परन्तु वैसे भी नाटकीय वस्तु संगठित करते समय नाटककार को स्थल और काल का संकलन करना पड़ता है। प्राचीन नाटकों में काव्य-तत्त्व की प्रधानता होने के कारण और रंगमंच पर खेले जाने के समय की दीर्घता के कारण नाटकीय कथा अनेक देशों और अनेक कालों में चलती रहती थी। आधुनिक नाटककार दो ढाई घन्टे रंगमञ्च पर चलनेवाली कथा की योजना करता है। इसलिए इन दो ढाई घन्टों में उपयुक्त देश-काल का संगठन उसके लिए आवश्यक हो जाता है। फलतः आज का नाटककार प्राचीन ग्रीक नाटक के 'संकलन-त्रय' (The three Unities) की ओर बढ़ रहा है। सारी कथावस्तु में एकसूत्रता हो (Unity of Plot), सारी घटनायें एक ही स्थान में घटित हुई हों (Unity of Place) और एक ही अविच्छिन्न समय में (Unity of Time)। इस तरह कथा की स्वाभाविकता की रक्षा पूर्णतयः हो जाती है। रोमांटिक नाटककार के लिये यह आवश्यक नहीं था। वह स्वर्ग-मृत्य को यथार्थ ही एक बना सकता था, परन्तु आज तो हम नाटक को व्यक्ति और समाज की अनेक उलझनों तक ही सीमित रखते हैं। अतः आज नाटक कल्पना का विलासमात्र नहीं रह गया। जिस तरह मूल कथावस्तु के साथ प्रासंगिक कथावस्तु का चलाना आजकल अनाटकीय माना जाता है, उसी तरह देश और काल के सम्बन्ध में कल्पना का खिलवाड़ करना भी अग्राह्य है। चित्रपट के द्वारा आज भी दो-ढाई घन्टे में एक मनुष्य के सारे

जीवन संघर्ष को चित्रित करना सम्भव है। विज्ञान की अनेक ऐसी सुविधाएँ चित्रपट को प्राप्त हैं कि वह प्रेक्षक में यह भ्रम सरलता से उत्पन्न कर सकता है कि जो कुछ वह देख रहा है, वह यथार्थ जीवन ही है, न जीवन से कुछ अधिक है, न कम। परन्तु रंगमंच के कलाकार के पास आज भी ये सब सुविधाएं नहीं हैं और इसलिये उसे देशकाल के सम्बन्ध में बंधी हुई सीमाओं में चलने में ही सुविधा रहती है।

सच तो यह है कि हम आज के नाटककार से न कविता चाहते हैं न कलाविलास। आज तो हम उससे 'जीवन' की माँग करते हैं। जीवन में जैसा होता है, वैसा ही वह रंगमंच के माध्यम से हमारे सामने रखे। अपनी ओर से न कुछ जोड़े, न कुछ घटाये। भाषा-शैली भी उसे ऐसी चाहिये जो किसी भी प्रकार असाधारण न हो। 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में जिस अलंकार-प्रधान भाषा का प्रयोग किया है, वह भाषा चाहे विशेष पठित वर्ग में समझी जा सके, साधारण जनता के लिए वह एकदम अनुपयोगी है। अब रह गई उद्देश्य की बात। नाटककार के लिए जीवन को जैसे-का-तैसा चित्रित कर देना ही आवश्यक नहीं। उपन्यासकार के लिए जीवन की व्याख्या आवश्यक नहीं है। परन्तु नाटककार सारे जीवन का निरर्थक चित्र उपस्थित नहीं करता। सारे जीवन के अनेक चित्रों में से वह केवल कुछ चित्र चुन लेता है। इस चुनाव से जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। अज्ञात रूप से अथवा ज्ञात रूप से, वह अपनी कथावस्तु के साथ जीवन की आलोचना भी उपस्थित कर देता है। प्रेक्षक के सामने जो आता है, वही यह बताने के लिए काफ़ी है कि नाटककार जीवन के महान् प्रश्नों के प्रति उत्तरदायी है या नहीं, जीवन के इन महत्वपूर्ण प्रश्नों के

सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण प्रगतिशील है या नहीं। इस प्रकार नाटक-रचना के समय नाटककार के उद्देश्य या लक्ष्य की बात सबसे पहले आती है।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि नाटक के अनेक मूल तत्व हैं। इनमें सबसे पहले नाटककार का उद्देश्य आता है। जब नाटककार किसी उद्देश्य-विशेष की स्थापना कर लेता है, तो वह कथावस्तु का संकलन करता है और इसके अनुरूप पात्रों के चरित्र की कल्पना करता है। पात्रों के कथोपकथन, उनके विचार, उनके चरित्र और नाटक की कथावस्तु नाटककार के उद्देश्य को स्थापित करने के साधन-मात्र हैं। पात्रों द्वारा रंगमंच पर जो उपस्थित किया गया है, वह अस्वाभाविक नहीं लगे, इसलिये देशकाल का उपयुक्त संकलन और भाषा-शैली की स्वाभाविकता वांछनीय हो जाती है। नाटक की श्रेष्ठता तो उसके उद्देश्य और नाटक के विभिन्न अंगों के कलात्मक संगठन पर आधारित है, परन्तु उसे जीवन की अनुरूपता देने के लिए वाह्यांगों पर ध्यान रखना भी आवश्यक होता है।

हिंदी नाटक और रंगमंच

नाटक और रंगमंच का अत्यंत निकट का सम्बन्ध है। नाटक नहीं है तो रंगमंच क्या होगा और बिना रंगमंच के नाटक क्या! नाटक साहित्य का एक ऐसा अंग है जिसका प्रदर्शन रंगमंच पर ही हो सकता है। नाटक पढ़ा भी जा सकता है, पढ़ कर सुनाया भी जा सकता है, परन्तु उसकी सार्थकता इसी में है कि वह रंगमंच पर खेला जाय। हमारे कुछ नाटककार कहते हैं—"हमें रंगमंच से क्या? हम तो साहित्यिक नाटक लिखेंगे। उन्हें पढ़ो। काव्य रस लो। हो सके तो खेल लो, नहीं हो सके

तो, बाबा, रहने दो।" परन्तु यह दृष्टिकोण ही ग़लत है। "साहित्यिक नाटक" न साहित्य है, न नाटक। नाटक में नाटकत्व का होना आवश्यक है और इस नाटकत्व या नाटकीयता को परखने के लिये रंगमंच चाहिये।

हिंदी नाटक आधुनिक वस्तु है। यों हिंदी का साहित्य एक सहस्र वर्ष पुराना है परन्तु उसमें कविता ही कविता है। नाटक के लिये गद्य चाहिये। गद्य १६वीं-१७वीं शताब्दी में पहली बार हमारे सामने आया। तब मुसलमानों का राज्य था। मुसलमान स्वयं मूर्तिकला के विरोधी, संगीत और चित्रकला के विरोधी, किसी भी प्रकार के अनुकरण के विरोधी। उनके यहाँ नाटक-जैसी कोई चीज़ नहीं थी। यहाँ उनके आने से पहले ही यह चीज़ समाप्त हो गई थी। पराजित हिंदू जनता इसका उद्धार भी नहीं कर सकी। फल यह हुआ कि मुसलमानी राज्य में न नाटक लिखे गये, न रंगमंच की आवश्यकता पड़ी। कुछ नाटक अनूदित अवश्य हुए—हृदयराम ने संस्कृत हनुमन्नाटक का अनुवाद किया, नेवाज ने शकुन्तला का अनुवाद किया, ब्रजवासीलाल ने प्रबोधचन्द्रोदय का अनुवाद किया। देव का मायाप्रपंच नाटक आध्यात्मिक कविता-मात्र है, यही हाल प्रबन्धचन्द्रोदय और समयसार का है जिनमें धैर्य, दया, पाप, पाखण्ड, ईर्ष्या आदि को पात्रों के रूप में उपस्थित किया है। 'आनन्द-रघुनन्दन' प्रभृति कुछ मौलिक नाटक भी लिखे गये तो आद्यांत छंद में और पात्रों के प्रवेश, प्रस्थान, दृश्य-परिवर्तन इन जैसी नितान्त आवश्यक बातों का कहीं पता नहीं। होता भी कैसे, रंगमंच तो था ही नहीं। नाटक के नाम पर संवादशैली में कविता ही लिख दी जाती थी।

जिस हिंदी नाटक में सबसे पहले पात्रों के प्रवेश आदि का ध्यान रखा गया है और नाटकीय नियमों का पूर्णतः पालन किया गया है, वह "नहुष" नाटक है। इसके लेखक भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र के पिता श्री गिरिधरदास थे। इस नाटक के बाद राजा लक्ष्मणसिंह के "शकुन्तला" अनुवाद का नाम आता है। फिर बाबू हरिश्चंद्र के मौलिक और अनूदित नाटक आते हैं। हरिश्चंद्र ने नाटक ही नहीं लिखे, रंगमंच का भी आयोजन किया। काशी में नाटक-मण्डली की स्थापना हुई। जिसमें भारतेन्दु के कुछ नाटक सफलता-पूर्वक खेले गये। सत्य हरिश्चंद्र, मुद्रा-राक्षस, नीलदेवी, भारत-दुर्दशा, अन्धेरनगरी—इन कुछ नाटकों ने रंगमंच पर अच्छी सफलता पाई। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक हिंदी में नाटक-साहित्य प्रचुर मात्रा में उपस्थित हो चुका था और कलकत्ता, काशी तथा प्रयाग की रंगशालाओं में खेला भी जा चुका था। नाटकों के विषय पौराणिक अथवा सामाजिक होते थे। उस समय की जनता की अभिरुचि को इन नाटकों में अच्छी चीजें मिलीं जिनसे उसका मनोरंजन हुआ। रंगमंच ने नाटकों के विकास में सहायता की। अंग्रेज़ी शिक्षा द्वारा सद्यः परिमार्जित अभिरुचि के नित नवीन सम्पर्क में आने के कारण देवता, राक्षस, यक्ष, गन्धर्वादि दैवी पात्र कम होते गये, दैवी चमत्कारों और आश्चर्य-घटनाओं की ओर से नाटककारों और प्रेक्षकों की दृष्टि हटी और भावों के संघर्ष की ओर बढ़ी।

परन्तु तभी हिंदी प्रदेश का रंगमंच पारसी थियेटर कम्पनियों के हाथ में चला गया। अभी साधारण जनता का पूरा-पूरा रुचि-परिष्कार भी न हो पाया था कि यह घटना घटी। थियेटर के उर्दू लेखकों के लिखे नाटकों की अति-नाटकीयता, तड़क-भड़क, गद्य-पद्य मिली चलती भाषा

और पौराणिक तथा रोमांचक कथानक ने हिंदी रंगमंच और मौलिक हिंदी नाटक का अंत कर दिया। राजा और मंत्री से लेकर भृत्य तक पद्य बोलते थे, जड़ाऊ ज़ेवरों और रंगबिरंगे रेशमी कपड़ों में सिर से पैर तक लदे हुए पात्र भँडेती करते हुए आते, भँडेती करते हुए चले जाते, परन्तु कहीं परदों की फड़फड़ाहट के बीच कोई दैवी पात्र आकाश से उतरता, कहीं कोई पृथ्वी में समा जाता। जनता ताली पीटती। उसकी कुतूहलवृत्ति को प्रदीप्त करने वाले इन पारसी थियेटरों ने भाव-प्रधान हिंदी नाटकों के लिये न रंगमंच छोड़ा, न जनता। तब से अब तक हिंदी जनता को रंगमंच नहीं मिला है।

रंगमञ्च नहीं रहा परन्तु नाटक लिखने की परम्परा बनी रही। कुछ दिनों तक मौलिक नाटक नहीं लिखे गए। अनुवादों की धूम मची। कालिदास, भवभूति, द्विजेन्द्रलाल राय और शेक्सपियर के अनुवादों से हिंदी नाट्य साहित्य का भांडार भरा गया। अनुवादों की यह परम्परा अब तक चली आती है। गैल्सवर्दी, मोलियर और इब्सन प्रभृति विदेशी नाटककारों की बहुत-सी रचनायें अनुवाद रूप में हिंदी साहित्य में आ गई हैं। समय-समय पर इनमें से कुछ को विद्यार्थी लोग छोटे-मोटे रंगमंचों पर खेलते भी रहे हैं, परन्तु इन अनुवादों को भी अलमारी तक ही अधिक सीमित रखा गया है। फल यह हुआ है कि आज तक नाटक 'पाठ्य' रहा है। वह विश्व-विद्यालयों, कालेजों और पुस्तकालयों के बाहर आना नहीं चाहता।

जिस युग में हिंदी का नाट्य भांडार विभिन्न साहित्यों के नाटकों से भरा जा रहा था, उसी युग में कुछ हिंदी-प्रेमी पारसी थियेटरों के लिए हिंदी भाषा में नाटक भी लिख रहे थे। ये नाटक पारसी स्टेज पर खूब

प्रसिद्ध हुए। छप कर प्रकाश में भी आये। इन थियेटरी नाटककारों में पं० राधेश्याम और श्री नारायणप्रसाद 'बेताब' प्रमुख हैं। इनका नाट्य साहित्य भी आज हिंदी की सम्पत्ति है परन्तु वह नाटक के ऊँचे मापदंडों पर पूरा नहीं उतरता। वह पारसी थियेटर का प्रतिबिंब है। हिंदी प्रदेश की जनता अथवा हिंदू संस्कृति को उसमें ढूँढ़ना मूर्खता होगी। उसमें साहित्यिकता की मात्रा भी बहुत कम है। फलस्वरूप, पारसी रंगमंच के बहुमूल्य उपकरणों के साथ चाहे वह कितना ही सफल रहा हो, लिखे हुए रूप में उसमें कोई भी आकर्षण नहीं। विषय वही है। समाज और पौराणिक एवं धार्मिक कथाएँ।

नाटक-साहित्य की इस दुर्दशा को देख कर कुछ ऊँची कोटि के साहित्यिकों का ध्यान उनकी ओर गया। इनमें बाबू जयशंकर प्रसाद अग्रगण्य हैं। इन्होंने अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त, विशाख आदि कई उच्च कोटि के नाटक लिखे। परन्तु भाषा क्लिष्ट है, कथानक भी रंगमंचोपयोगी नहीं। चरित्र-चित्रण अवश्य अच्छा हुआ है परन्तु रंगमंच के नाटकों में नाट्योपयोगिता की ओर जो ध्यान रखा जाता है, उसका नितांत अभाव है। ऐसा होना आवश्यक था। प्रसाद बाबू रंगमंच से परिचित नहीं थे। एक दो अवसरों के अतिरिक्त उनके नाटक उनके सामने खेले भी नहीं गए, अतः उन्होंने रंगमंच की एकदम उपेक्षा की। आलोचकों की चिल्लाहट से चिढ़कर जैसे उन्होंने नाटक और रंगमंच के सम्बन्ध में अपना एक विशेष मत ही गढ़ लिया—वह नाटक लिखेंगे, रंगमंच वाले रंगमंच को उनके नाटकों के लिये तैयार करें। उनके आलोचकों एवं समर्थकों ने भी आखिर यही निश्चय किया है—"प्रसादजी के नाटकों की सर्वांग समीक्षा बिना हिंदी के स्वतंत्र

रंगमंच की स्थापना नहीं हो सकेगी। उसके नाट्य-चमत्कार को हम तभी देख सकेंगे। उद्योग उसी के लिए होना चाहिए।"

परिस्थिति सचमुच विचित्र है। हिंदी के नाटककार नाटक लिखते हैं। वर्ष भर में दस-बीस नाटक प्रकाशित भी हो जाते हैं। परन्तु हिंदी का कोई अपना रंगमंच नहीं है। इसलिए ये पुस्तकालयों में स्थान पाते हैं या कोर्सबुक (पाठ्यग्रंथ) बन कर समाप्त हो जाते हैं। उनका अभिनय नहीं होता। फलतः लेखक यह नहीं जान पाता कि अभिनय की दृष्टि से वह कहाँ सफल है, कहाँ असफल। कुछ मंडलियाँ वर्ष में एकाध बार यहाँ-वहाँ से परदे जुटा कर कोई अभिनय भी कर लेती हैं तो दर्शक इकट्ठे नहीं होते। भारतेन्दुकाल में रंगमंच धीरे-धीरे पनपने लगा था। इतने में पारसी स्टेज आ गया। हिंदी के नाटककार बँगला रंगमंच की सफलता को देख कर हाथ मलते रह गये। आप कुछ करते-धरते नहीं बना तो बँगला के अनुवादों से हिंदी का भांडार भर दिया। फिर जब इन अनुवादों की बहुलता ने हिंदी नाटककारों को जन्म दिया तो सस्ती भावुकता लेकर वर्तमान सिनेमा के सवाक् चित्रपटों का अभ्युदय हो गया। फलतः हिंदी के नाटक के लिए अभिनय का स्वाँग भर रह गया। फिर वह भी समाप्त। जो नाटककार स्वतंत्र रूप से नाटक लिखने लगे थे, उन्होंने रंगमंच के पुनरुत्थान के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। वे रंगमंच के ज्ञान और अभिनय के अनुभव से शून्य रहे। इस प्रकार "दृश्य काव्य" नाटक हिंदी में "पाठ्य-काव्य" मात्र रह गया।

यह हम जानते हैं कि पारसी थियेटर और आज के सिनेमा भवन ने जनता की अभिरुचि बिगाड़ दी है। वह कथानक चाहती है, रोमांच चाहती है। कौतूहलवर्द्धक घटनाएँ एक-एक कर मंच पर आती जायें।

कुछ चमत्कार हो। दृश्यों की जगमगाहट और परदों की फटफटाहट से उसकी आँखों को चौंध लगे, कान बहरे हो जायें। ऐसा नाटक चाहिये! ऐसा रंगमंच हो!! तब वह करतलध्वनि करती हुई कहेगी—"Splendid", "Supesrb", "Excellent", "खूब खूब" "Once more." परन्तु इलाज क्या है? क्या हाथ पर हाथ रख बैठ जाना श्रेष्ठ होगा? जानते हैं जनता की रुचि बिगड़ी है, परन्तु सँभालेगा कौन? सुधरेगी कैसे? यह तो साहित्य-प्रेमियों का ही काम है कि जनता में नाटक के लिए अभिरुचि उत्पन्न करे। उसकी रुचि का परिमार्जन करे। नहीं तो जनता और उनमें सम्पर्क ही कैसे होगा? नाटक किसके लिए लिखे जायेंगे? आवश्यकता इस बात की है कि हिंदी-प्रेमी संस्थायें इस काम को हाथ में लें। कलकत्ता, काशी, प्रयाग, आगरा, दिल्ली जैसे बड़े-बड़े नगरों में एक-एक हिंदी रंगमंच अवश्य स्थापित हों। इनमें साहित्यिकों के लिखे हुए नाटक अभिनीत हों। जनता के मनोरञ्जन के लिए भी ध्यान रखा जाय। उसे ऐसा प्रलोभन दिया जाय कि वह अधिक से अधिक संख्या में इन नाटकों का अभिनय देखे। नाटककार को भी जनता और रंगमंच का अध्ययन करने का मौक़ा मिले। परन्तु ऐसा हो तो इसके साथ ही हमें नाटक-सम्बन्धी अपनी धारणाएँ भी बदलनी होंगी।

हमारे नाटक बड़े-बड़े होते हैं। हमें छोटे-छोटे नाटक लिखने होंगे जो सिनेमा से अधिक समय न लें। १००-१२५ पृष्ठों का नाटक २ घंटों में अभिनीत हो सकता है। इससे अधिक बड़े नाटक आधुनिक मंच के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होंगे। सब नाटक गंभीर भी नहीं हों। कुछ प्रहसन हों। कुछ ऐतिहासिक, कुछ रोमांचक। कुछ यथार्थवादी। उनमें स्वगत-कथन जैसे पुराने भद्दे प्रयोग न हों जो आज के युग में

अस्वाभाविक लगें। नाटककारों के लिखे हुए संकेतों के अनुसार ही नायकों का अभिनय किया जाय। उधर नाटककार भी रंगमंच का अधिकाधिक ज्ञानार्जन करे और धीरे-धीरे संकेत लिखने में पटु हो जाये। पश्चिमी देशों में नाटककार ने ही निर्देशक का स्थान ले लिया है। पात्र की क्या आयु हो, क्या कपड़े पहने, किन हाव-भावों का प्रदर्शन करे—इन बातों की योजना नाटककार ही करता है। वहाँ संकेत लेखन एक विशिष्ट कला हो गया है। भाषा की दृष्टि से भी हमें कुछ आगे बढ़ना होगा। हमें अपने नाटकों के लिए ऐसी भाषा का निर्माण करना होगा जो साहित्य की रक्षा करे परन्तु जनसाधारण के लिये दुरूह न हो जाए। काव्यपूर्ण भाषा, छंद और गीतों का युग गया। अब तो नाटक सारे का सारा गद्य में ही होगा। हो सकता है, अवसरानुकूल कुछ गीत रहें, परन्तु एक-दो, अधिक नहीं।

इस नए रंगमंच से हमें सब प्रकार की अस्वाभाविकताओं को दूर रखना पड़ेगा। इस समय स्त्रियाँ रंगमंच पर नहीं आतीं। परदे की प्रथा और शिक्षा का अभाव यह दो मुख्य कारण हैं जिनके कारण ऐसा होता है। जब स्त्रियाँ अपनी कला से हिंदी रंगमंच को गौरवान्वित करेंगी तब हमारी नाट्यकला इतनी अस्वाभाविक और अरुचिकर नहीं रहेगी।

हर्ष की बात है हमारे साहित्यिकों का ध्यान इस ओर गया है। समस्यामूलक नाटक की सृष्टि हुई है। "एकांकी" लिखे जा रहे हैं। विश्व-विद्यालयों और कालेजों के लड़कों ने कितने ही एकांकियों का अच्छा अभिनय किया है। इन अभिनयों की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ रही है और इनके द्वारा हमारे नाटककार धीरे-धीरे मंच की आवश्यकताओं से

परिचित हो रहे हैं। आलोचकों का ध्यान भी इस ओर गया है। हिंदी नाटकों की आवश्यकताओं के विषय में एक नाटककार-आलोचक ने कुछ ही समय पहले लिखा है—"हमें हिंदी में ऐसे नाटकों की सृष्टि करनी है जो वास्तव में जीवन की प्रतिकृति होते हुए भी रंगमंच की सुविधानुसार पूरे उतरें। उनमें साहित्य की व्यंजना भी यथेष्ट हो और रंगमंच की आवश्यकताओं की सामग्री भी पूर्ण रीति से हो। जिस समय हिंदी में ऐसे नाटकों की सृष्टि होगी उस समय हमारा हिंदी नाट्य साहित्य अन्य उन्नत भाषाओं के नाट्य शास्त्र से समानता कर सकेगा।"

५

उपन्यास

आधुनिक परिभाषा में जिसे "उपन्यास" कहा जाता है उसका प्रवेश साहित्य-जगत में १७वीं शताब्दी में हुआ है। इससे पहले मनोरंजन के केवल दो साहित्यिक साधन सुलभ थे—काव्य और नाटक। उपन्यास के प्रवेश ने साहित्य में क्रांति उत्पन्न कर दी। जहाँ काव्य का विषय मुख्यत: आनन्द था, या हमारे देश की परिभाषा में रसानुभूति था, वहाँ उपन्यास का विषय आनन्द या रसोद्रेक उतना नहीं जितना मनोरंजक था परन्तु साथ ही उपन्यास का वास्तविक जीवन से अधिक निकट का संबंध था और वह समाज की आलोचना भी करता था। नाटक और उपन्यास में भी अंतर था। नाटक का ध्येय भी रसानुभूति होता था और वह सामाजिक जीवन से अधिक सार्वभौमिक तत्वों एवं सिद्धांतों की आलोचना करता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कला की दृष्टि से ही नहीं, शुद्ध साहित्य की दृष्टि से भी हमें उपन्यास में अभूतपूर्व वस्तु मिलेगी। जहाँ कविता का संबंध केवल दृश्य से था वहाँ विषय के विश्लेषण के लिए अवकाश ही नहीं था, वहाँ उपन्यास-पाठ से विश्लेषण-शक्ति पूर्णत: जाग्रत हो जाती थी और उपन्यास की समाप्ति के पश्चात् हम आह्लाद के साथ सत्य का आविष्कार भी करते थे। जहाँ कविता की पहली पंक्ति हमें आनंदविभोर कर सकती थी, वहाँ उपन्यास पढ़ते समय हमें जो आह्लाद

होता था, उसमें साथ-साथ निरीक्षण और विश्लेषण भी चलता रहता था।

धीरे-धीरे उपन्यास के आह्लादक गुणों की अपेक्षा निरीक्षण और विश्लेषण, एक शब्द में समाज, व्यक्ति या सिद्धांत की ओर कलाकार अधिक-अधिक आग्रह के साथ बढ़ते गये। अब तो उपन्यास समाज की आह्लादक आलोचना से बढ़कर "Sociological tract" (समाजशास्त्र का ग्रंथ) बन चला है। १८६० ई० से १८६० ई० तक यूरोप में जितने उपन्यास लिखे गये हैं उन्होंने समाज की प्रचलित धारणाओं का विरोध किया है और व्यक्ति और समाज की धर्म, प्रेम, आचरण और संस्कार-विषयक मान्यताओं पर गहरी चोटें की है। कदाचित् उन्हीं के कारण कितने ही नए सामाजिक आन्दोलन उठ खड़े हुए हैं। उपन्यासकारों ने समाज की जड़ को खोलता दिखा दिया है और मनुष्य की भावधाराओं में भीषण और क्रांतिकारी आन्दोलनों को प्रतिष्ठित किया है। हमारे साहित्य में प्रेमचंद के "सेवासदन", ऋषभचरण जैन और उग्र के उपन्यास और 'प्रसाद' के "तितली" और "कंकाल" समाज के प्रति विद्रोह-भावना और क्रांति का संदेश लेकर ही उपस्थित हुए हैं। एक दूसरे प्रकार के उपन्यास भी लिखे गये हैं जो मनुष्य के चरित्र के खोखलेपन को दिखलाना ही अपना ध्येय बना लेते हैं। यद्यपि हमारे साहित्य में इस प्रकार के उपन्यास बहुत नहीं लिखे गये, परन्तु पश्चिम में उनकी कमी नहीं है। परन्तु पात्र के विश्लेषण और मनोविज्ञान का आश्रय लेकर कुछ सफल उपन्यास, जैसे 'त्यागपत्र' हिन्दी में हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ प्रारम्भिक उपन्यासों का ध्येय मनोरंजन था, रोमांस, ऐयारी-तिलिस्मी और जासूसी उपन्यास तो मुख्यतः मनोरंजन

की दृष्टि से लिखे जाते थे, वहाँ आज के उपन्यासों का मूल उद्देश्य व्यक्ति के मत और समाज की मान्यताओं का विश्लेषण और उनकी आलोचना है।

जब कुछ दिन पहले यह कहा गया कि "साहित्य जीवन है" या "जीवन का प्रतिबिंब" है तो उपन्यासकारों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह व्यक्ति के आभ्यांतरिक जीवन और समाज के जीवन-प्रवाह को अधिक-अधिक पकड़ने की चेष्टा करें। फलतः हमें जेम्स ज्वाइस और प्रूस्ट (Proust) के उपन्यास मिले। परन्तु इस प्रयत्न में उपन्यासकारों ने अनायास ही ऐसे तत्त्वों का उद्‌घाटन किया जिनकी कोई संभावना नहीं थी और जो भविष्य के उपन्यासों पर अत्यन्त गंभीर प्रभाव डालेंगे और कदाचित् उपन्यास का अस्तित्त्व ही मिटा देंगे।

उपन्यास के तत्त्व हैं कथानक या घटना-क्रम, चरित्र या पात्र, बीज या उद्देश्य। जहाँ कोई बीज या उद्देश्य नहीं, वहाँ मनोरंजन ही उद्देश्य होता है। इनमें कथानक और पात्रों के संबंध में भी अब कठिनाइयाँ उपस्थित हो गई हैं। घटनाओं का क्रम क्या हो? उसका जीवन से क्या संबंध हो? इसके लिए यह निश्चित किया गया कि घटनाएँ चाहे सत्य हों, या काल्पनिक उन्हें दैनिक जीवन के आधार पर गढ़ना आवश्यक है। साथ ही जीवन से उपन्यास के घटना-क्रम को एक-रूप बनाने के लिए यह कहा गया कि घटना-क्रम केवल न्याय-संगत ही न हो, उसमें आकस्मिक घटनाएँ भी हों क्योंकि वास्तविक जीवन में आकस्मिक घटनाएँ घटा करती हैं। जहाँ पिछले उपन्यासकार कहते थे कि आकस्मिक घटनाएँ "दैव" या "चमत्कार" या "होनी" को उपन्यास में स्थान नहीं मिलना चाहिये, वहाँ इधर के उपन्यासों ने इन्हें स्थान दिया है। परन्तु

अब उपन्यासकार यह समझने लगा है कि वास्तव में घटनाओं का कोई क्रम नहीं होता। घटनाओं के प्रवाह को हम पकड़ ही नहीं सकते। घटनाओं का क्रम ढूँढ़ना तो जीवन की वास्तविकता से दूर चले जाना है। जीवन बिखरी हुई, असम्बद्ध घटनाओं का नाम है और कथा-सूत्र में बाँधा नहीं जा सकता। इसीलिये यूरोप के कुछ उपन्यासों में अशृंखलित, असम्बद्ध, बिखरे जीवन के चित्र भर दिये गये हैं। इस प्रकार "कथानक" की निःसारता समझ कर लेखक जब उपन्यास लिखने बैठेगा तो वह घटना-क्रम कैसे बांध सकेगा।

पात्रों के संबंध में हमारी धारणा में कथानक-संबंधी धारणा से भी अधिक परिवर्तन हो गया है। प्राचीन काल से नायक और नायिका की महत्ता चला आ रही है। महाकाव्य का विषय ही नायक-नायिकाओं की प्रतिष्ठा थी। दूसरे चरित्र महाकाव्य में स्थान पाते थे, परन्तु वे गौण थे। उपन्यास में भी यही रीति चली। अधिकांश उपन्यासों में चरित्रों की नई श्रेणियाँ होती हैं परन्तु नायक और नायिका पर ही उपन्यासकार की दृष्टि अधिक जमी रहती है। इन्हीं दोनों चरित्रों को पूर्ण रूप से प्रस्फुटित करना उसका एकांत ध्येय होता है। १८४८ ई० में थैकरे ने "वैनिटीफ़ेयर" लिख कर यह घोषणा की कि इस उपन्यास में नायक नहीं है, तो साहित्यिकों में एक कुतूहल-जनक बवंडर उठ खड़ा हुआ। परन्तु नायक-नायिका की प्रतिष्ठा फिर भी उतनी ही बनी रही और कदाचित् अब भी बनी है यद्यपि समय-समय पर उसका विरोध होता रहता है। चरित्रों के चित्रण में जहाँ पहले कुछ देवता बना दिये जाते थे, और दूसरे राक्षस, वहाँ बाद को देवताओं के चारित्रिक दोष और राक्षसों में देवत्व का आरोप किया जाने लगा। उपन्यासकारों ने

यह दिखलाना चाहा कि न कोई देवता है, न कोई राक्षस। लेखकों ने समाज की मान्यताओं का खोखलापन दिखाना ही अपना ध्येय मान लिया। उन्होंने दिखलाया कि योद्धा मूलतः कायर होते हैं, कम-से-कम साधारण मनुष्य से अधिक साहसी नहीं होते, ऐतिहासिक महान् चरित्रों में अनेक दुर्बलताएं हैं, नायिका शुद्धता और सतीत्व की प्रतिमूर्तियाँ नहीं होतीं; वास्तव में शुद्ध प्रेम का कहीं अस्तित्व नहीं, सब जगह वासना और इंद्रियासक्ति की अन्तःसरिता बहती है।

चरित्र-चित्रण के संबंध में उपन्यासकारों ने मनोवैज्ञानिकों की खोज से लाभ उठाना चाहा है, परन्तु अब वे इस ज्ञान से इतने दब गये हैं कि महान् चरित्रों की अवतारणा करना उनके लिए असंभव हो गया है। आधुनिक मनोविज्ञान कहता है कि "व्यक्तित्व" पकड़ में आ ही नहीं सकता, वह तो क्षण-क्षण बदलता रहता है। मार्शल प्रूस्ट जैसे उपन्यासकारों ने यह चेष्टा की है कि मनोवैज्ञानिकों की खोज के आधार पर मनुष्य के व्यक्तित्व की गहराई में उतारें: उन्होंने मनुष्य के मन का ठीक-ठीक चित्र देने के लिए उसकी उच्छृङ्खल तथा विशृंखल भाव-धारा का अत्यंत विस्तार से कलापूर्ण चित्रण आरम्भ किया है। एक क्षण में मनुष्य की भावधारा कितनी दिशाओं में किस प्रकार बहती है यह दिखाने की चेष्टा में दस-दस बीस-बीस पन्ने रङ्ग दिये गये हैं। परन्तु फिर भी यह प्रश्न बना रहा कि क्या वास्तव में लेखक पात्र के मन को सम्पूर्णतः पकड़ सका है। जहाँ प्राचीन महाकाव्यकार, नाटककार और उपन्यासकार पात्र के किसी विशेष गुण-दोष को प्रधानता देते थे, और सारे उपन्यास में उसे उन्हीं के द्वारा अन्य चरित्रों से अलग रख सकते थे, वहाँ आज यह कहा जा रहा है कि यह जीवन

का चित्र ही नहीं है। है तो अधूरा चित्र है—हम किसी एक गुण-दोष या दो-चार गुण-दोषों से किसी मनुष्य के व्यक्तित्व को निश्चित नहीं कर सकते।

सच तो यह है कि जिस प्रकार विज्ञान की खोजों ने हमारे जीवन को बदल दिया है, उसी प्रकार मनोविज्ञान के अनुसंधानों ने हमारी मान्यताओं, हमारी धारणाओं और जीवन-संबंधी हमारे सिद्धांतों में क्रांति उपस्थित कर दी है। उपन्यास क्या है—काल का चित्र, जीवन का चित्र, मानव-चरित्र का विश्लेषण, मन का विश्लेषण, समाज की आलोचना। आधुनिकतम खोजें कहती हैं—हम इनमें से किसी एक के संबंध में निश्चित रूप में कुछ कह नहीं सकते। काल की गति का ठीक-ठीक चित्र हम नहीं खींच सकते। इसलिए कथा में घटनाक्रम की अवस्थिति असत्य है। इस प्रकार उपन्यासकार के हाथ से कथानक ही निकल गया। हम यह मान सकते हैं कि कथानक के बिना भी उपन्यास चल सकता है, परन्तु वह कितना जटिल, क्लिष्ट और नीरस होगा, यह जेम्स ज्वायेस के "यूलीसेस" को पढ़कर जाना जा सकता है। जीवन-घटनाओं के प्रवाह और चरित्रों के संबद्ध मायाजाल का नाम है, परन्तु न हम घटनाओं के प्रवाह के अर्थ समझ सकते हैं, न मानव-स्वभाव पर उनका प्रभाव ही ठीक-ठीक आँक सकते हैं। इसलिए जीवन तक पहुँचने की बात कहना मूर्खता है। मानव-चरित्र मानव-मन पर आश्रित है, परन्तु उसके विषय में हम निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकते—कुछ नहीं जानते। किसी भी मनुष्य का मन किसी निश्चित रेखा पर चलता है, यह बात भ्रांति-पूर्ण है।

ऐतिहासिक उपन्यास

स्कॉट के समय से ऐतिहासिक उपन्यास उपन्यास-साहित्य का एक विशिष्ट अंग बन गया है। अब उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। परन्तु सबसे पहले हमें उन आपत्तियों को समझ लेना है जिन्हें वे लोग समय-समय पर उठाते हैं जो इतिहास को कथा के रूप में देखना नहीं चाहते।

पहली विचारणीय बात यह है कि इतिहास के सत्य और साहित्य के सत्य दोनों की रक्षा कैसे हो सकती है और कहाँ तक हो? उपन्यास के अन्दर इतिहास की जो विकृति हो जाती है, वह कहाँ तक ठीक है? उत्तर यह है कि इतिहास के सत्य और साहित्य के सत्य में अंतर जिन कारणों से पड़ जाता है, उन्हें ढूँढ़ निकालना होगा। एक बात तो यह है कि इतिहास की नई-नई घटनाओं और उनसे सम्बन्धित सांस्कृतिक विशेषताओं का उद्घाटन होता रहता है जिससे पिछले मूल्य बदले जा सकते हैं। नए प्रमाण नित्यप्रति हमारे सामने आते हैं और उनके अनुशीलन द्वारा हम नई-नई ऐतिहासिक सच्चाइयों से परिचित होते हैं। संक्षेप में, हम अतीत के विषय में नित्यप्रति नई बातें जानते रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में हम इतिहास को उसी समय कथा का रूप दे सकते हैं जब हम यह जान लें कि विशेष युग या ऐतिहासिक घटना के सम्बन्ध में सब कुछ जानना समाप्त हो गया। परन्तु यह कैसे कहा जा सकता है कि अब समाप्त हो गया, जानने को कुछ शेष नहीं रहा। आज जो ध्रुव सत्य है, कल इतिहास के सिंहासन से नीचे उतार दिया जाता है। तब या तो कहानीकार इतिहास को कथा का रूप ही न दे या अप्रामाणिकता और असत्य कथन का दोषारोपण सिर पर ले। हम जानते हैं

आया है। उपन्यासकार स्वयम् जिस युगमें चलता होता है, उसकी विशेषताओं से वह पूरा-पूरा परिचित होता है। पग-पग पर वह उस युग की परीक्षा करता है अथवा कर सकता है। अतीत के युग को चित्रित करते हुए उसे एक अपरिचित प्रदेश की यात्रा करनी होती है जहाँ क़दम-क़दम पर गड्ढे हैं, जहाँ उसे प्रत्येक दिशा में सचेष्ट रहना होगा। यह सचमच कठिन काम है। उसे युग-विशेष के कपड़े-लत्तों, मकानों, रहने के ढंग, भोजन, वार्तालाप के विषय और भाषा, उपार्जन के साधन—सभी के विषय में जानना आवश्यक हो जाता है। वह स्वयम् नास्तिक हो, हो सकता है उसे एक धार्मिक आन्दोलन के बीच से गुजरना पड़े; स्वयम् प्रजातंत्रवादी हो और एकतंत्र के वातावरण और मनोविज्ञान का उद्घाटन करे। उसे अपने वर्तमान रूप को एकदम उतार फेंकना है और एक अपरिचित रूप धारण कर लेना है। वह अपने युग से हट कर पीछे चला जाय। साथ ही उसे यह भी देखना है कि वह जो कहे वह स्वयं उसके युग की अनुभूतियों से इतना दूर नहीं जा पड़े कि लोग उसका पुनर्निर्माण न कर सकें या उसमें दिलचस्पी न लें। सच तो यह है, उसे वर्तमान को दृष्टि में रखकर अतीत के मुख पर से अवगुंठन उठाना होता है।

उपन्यास कितनी ही बातों के लिए अतीत की ओर मुड़ सकता है—

एक—वह वर्तमान की वीथिका देकर उसके उज्ज्वल अथवा कुत्सित पक्ष को प्रकाश में लाना चाहता है।

दो—इसलिए कि वह किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति या किसी ऐतिहासिक आन्दोलन या घटना से आकर्षित हुआ है।

तीन—वह अतीत के द्वारा मनोविज्ञान की कोई समस्या आँकना चाहता है।

चार—वह आदर्शमूलक तथ्यों को संघर्ष करते हुए देखता है, जैसे वह 'एकतंत्रवादी समाज', 'धनी समाज' आदि के द्वारा वर्गविभेद के किसी रूप को सामने रख रहा हो।

पाँच—जातियों के मिश्रण एवं संघर्ष का अध्ययन करना चाहता है।

छः—इतिहास के प्रवहमान रूप में नित्य सत्य को स्थापित करना चाहता है।

सात—किसी युग, देश, समाज, कुटुम्ब या इन सब को, जैसे वे किसी समय होंगे, चित्रित करना चाहता है।

आठ—उसमें "रोमांस" की भावना है या वह वर्तमान से क्षुब्ध होकर पलायन करता है।

और भी कितने ही कारण हो सकते हैं परंतु प्रमुख रूप से उसे यही [illegible]म है कि प्राचीन ऐतिहासिक वातावरण का निर्माण और ऐतिहासिक [illegible]ष्ठा करते हुए उसे न पूर्ण रूप से सनातन का ज्ञान हो सकता है, न [illegible] उसका ठीक ठीक पुनर्निर्माण कर सकता है। अतः उसे अपना कथानक नित्य सत्यों के आधार पर चलाना होगा। मा का बच्चे के प्रति स्नेह और वात्सल्य, देश के प्रति बलिदान की भावना, प्रेमी का प्रेमिका के केशों को सुगंध से भरना और उसकी मृत्यु पर उसके लिए बिलखना, हत्या के बदले हत्या की भावना—ये कुछ नित्य सत्य हैं। इतिहास को इनके बीच में ही खिलना होगा। यही नित्य तत्त्व उसे जीवित रखेंगे। ऐतिहासिक उपन्यासकार को कल्पनात्मक ऐतिहासिक

कि किसी भी अतीत घटना के सम्बन्ध में जानना कभी समाप्त नहीं होता। तब हम अधूरे सत्य को ही कथा का विषय बनायेंगे। परन्तु आक्षेपक कहेगा—इससे लाभ क्या है? ऐतिहासिक उपन्यास में हम अतीत का चित्र देखना पसंद करते हैं, उससे एक प्रकार का रस लेना चाहते हैं, जिसे श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने "ऐतिहासिक रस" का नाम दिया है। हमारा उद्देश्य उस रस की प्राप्ति है। जहाँ हमने वह पा लिया, वहाँ उपन्यासकार के नाते हमारा काम समाप्त हो गया।

साधारण उपन्यास में हम पात्रों के जीवन के उत्थान-पतन, दुख-सुख, हर्ष-शोक आदि को अपना विषय बनाते हैं, उन्हें अपना समझ कर, पड़ोसी समझ कर अथवा अत्यन्त निकट का सम्बन्धी समझ कर उनमें दिलचस्पी लेते हैं, उनसे समवेदना प्रगट करते हैं, उनमें रस लेते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास के पात्र साधारण उपन्यासों के पात्रों की अपेक्षा अधिक विशिष्ट होते हैं। उनका सुख-दुख संसार की बृहद् घटनाओं के साथ बंधा होता है। विशेष आन्दोलनों, राज्यों के उत्थान-पतन, जातियों के संघर्षों के भीतर प्रतिष्ठित उन विशेष व्यक्तियों का सुख-दुख हमें और भी अधिक प्रभावित करने की क्षमता रखता है। हम जानते हैं आख़िर ये भी हम-जैसे मनुष्य थे जो हमारी तरह ही जीवित थे। इतिहास के विशाल रंगमंच की पृष्ठभूमि देकर वैयक्तिक सुख-दुख को विराट् बना देना—यही ऐतिहासिक उपन्यासकार की सफलता का रहस्य है। नए अनुसंधान भी उस सत्य को बदल नहीं सकते जो मनोविज्ञान पर आश्रित है, भले ही उनसे दो-चार नाम बदल ज़ायें या किन्हीं एक-दो पात्रों का अस्तित्व ही संकट में पड़ जाये।

दूसरी बात यह है कि ऐतिहासिक उपन्यास में उपन्यासकार कितना

सत्य ले, कितनी कल्पना उसमें मिलाए। ऐतिहासिक उपन्यास के एक ओर इतिहास है, दूसरी ओर कथा। दोनों नावों पर एक ही साथ चढ़े कैसे ? सर फ्रांसिस मालोव का कहना है कि ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास और कथा दोनों का शत्रु है। मतलब यह है कि उपन्यासकार कथा के लिए इतिहास को विकृत कर देने के लिए लाचार है और इतिहास के ढाँचे में कथा को ढालने से उसके स्वाभाविक प्रवाह में बाधा पड़ती है। इस सम्बन्ध में हमें यह कह देना है कि पाठक विशुद्ध इतिहास के लिए ऐतिहासिक उपन्यास नहीं पढ़े—जहाँ तक हो सके, ऐतिहासिक सत्य का अनुशीलन करे परन्तु अपनी दृष्टि ऐतिहासिक रस की उपलब्धि पर रखते हुए भी साहित्य के रस को अपना लक्ष्य बनाए। हो सके तो दोनों को ठीक-ठीक मात्रा दे।

परन्तु यहाँ एक बात और भी जान लेना है। साहित्य के रूप में जो इतिहास प्रचलित हो चुका है, उसका विरोध नया अनुसंधान भी नहीं कर सकता। रावण सदा रावण रहेगा। उसे इतिहास कितना ही भला प्रमाणित कर दे, वह राम नहीं हो सकता। "प्रचलित इतिहास" के विरुद्ध जाने से काव्य-रस नष्ट हो जाता है, अतः कल्पना को इतिहास का रूप देते हुए इतिहासकार को अत्यन्त सचेष्ट रहना होगा। वह ऐतिहासिक सत्य पर आघात न करे, प्रचलित सत्य की अवहेलना न करे; और काव्य-रस को भी पुष्ट करे। इस प्रकार तीन-तीन मान्यताओं को साथ लेकर चलना कठिन है, यह हम मानते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास में लेखक यह प्रयत्न करता है कि वह किसी ऐसी विगत पीढ़ी के वातावरण, धारणाओं, विश्वासों, मान्यताओं, विचारों और मनोविज्ञान का पुनर्निर्माण करे जिसके संपर्क में वह स्वयं नहीं

दिखाया ही नहीं जाता; और यदि ऐसा किया भी गया तो भी समय की कमी को ध्यान में रखकर केवल बहुत ही आवश्यक परिस्थितियाँ चुनी जा सकता हैं। नहीं तो कहानी के पात्र चरम सीमा या परिवर्तन की दशा में विकसित रूप में हमारे सामने आते हैं और हमें उन्हें उसी रूप में स्वीकार करना होता है जिस रूप में कहानीकार उन्हें हमें दे।

कहानी एक विशेष तथ्य (बीजवस्तु) को स्पष्ट करने के लिए लिखी जाती है। यह एक कठिन काम है और कहानी को बीजवस्तु को स्पष्ट करते हुए कला के अनेक अंगों को स्पष्ट करना होता है। वह सदैव ही यथार्थवादी नहीं हो सकता। उसे बीच-बीच में रोमांटिक, दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण ग्रहण करना होता है और साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना होता है कि कहानी के प्रभाव और उसके कलात्मक सौन्दर्य पर आघात न पहुँचे।

उपन्यास का लक्ष्य

उपन्यास के लक्ष्य के संबंध में विशद रूप से विचार करने से पहले हमें हिंदी के श्रेष्ठ औपन्यासिक प्रेमचंद के उपन्यास-सम्बन्धी विचारों को सामने रखना है जिससे उपन्यास-सम्बन्धी एक निश्चित विचारधारा सामने आ जाय और हम उसके आधार पर उपन्यास के लक्ष्य और उसके विभिन्न तत्त्वों का विवेचन करें। प्रेमचंद के उपन्यास-सम्बन्धी विचार मुख्यतः उनके उन कुछ निबन्धों में मिलते हैं जो 'कुछ विचार' के नाम से संग्रहीत हुए हैं। वे लिखते हैं—

"मैं उपन्यास को मानव-जीवन का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।"

"चरित्र सम्बन्धी समानता और विभिन्नता—अभिन्नत्व में भिन्नत्व और विभिन्नता में अभिन्नत्व दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्तव्य है।"

(उपन्यास)

"उपन्यासकार का प्रधान गुण उसकी सृजन-शक्ति है। अगर उसमें इसका अभाव है, तो वह अपने काम में भी सफल नहीं हो सकता। उसमें और चाहे जितने अभाव हों, पर कल्पना-शक्ति की प्रखरता अनिवार्य है। अगर उसमें यह शक्ति मौजूद है, तो वह कितने दृश्यों, दशाओं और मनोभावों का चित्रण कर सकता है जिनका उसे प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है।"

"उपन्यास की रचना-शैली सजीव और प्रभावोत्पादक होनी चाहिये।"

"भविष्य उन्हीं उपन्यासों का है जो अनुभूति पर खड़े हैं।"

"भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। उसकी छोटाई-बड़ाई का फैसला उन कठिनाइयों से किया जायगा जिन पर उसने विजय पाई है।"

"यह ज़रूरी नहीं कि हमारे चरित्रनायक ऊँची श्रेणी के ही मनुष्य हों। हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्ष्या और द्वेष मनुष्य मात्र में व्यापक हैं।"

"खेद है कि आजकल के उपन्यासों में गहरे भावों के स्पर्श करने का बहुत कम मसाला रहता है। अधिकांश उपन्यास गहरे और प्रचंड भावों का प्रदर्शन नहीं करते। हम आये-दिन की साधारण बातों में ही उलझ कर रह जाते हैं।"

"उपन्यासकार को इसका अधिकार है कि वह अपनी कथा को घटना-वैचित्र्य से रोचक बनाये, लेकिन शर्त यह है कि प्रत्येक घटना असली ढाँचे से निकट सम्बन्ध रखती हो; इतना ही नहीं, बल्कि उसमें इस तरह

पुनर्निर्माण करना होता है, विशुद्ध ऐतिहासिक पुनर्निर्माण उसकी परिधि के बाहर है। वह हो भी सकता है, यह कहना कठिन है।

उपन्यास और कहानी

साधारणत: लोग उपन्यास और कहानी में विशेष अंतर नहीं समझते। उनकी दृष्टि में कहानी छोटा उपन्यास है अथवा उपन्यास लम्बी कहानी है। शरत् बाबू के १००-१२५ पृष्ठों के उपन्यासों को कोई आलोचक कहानी मानता है, कोई उपन्यास। साधारण पाठक उसे लंबी कहानी कह कर संतोष कर लेता है। बात ऐसी नहीं है। लंबी होने से कोई कहानी उपन्यास नहीं हो जाती और छोटा होने से कोई उपन्यास कहानी नहीं हो जाता। कला की दृष्टि से उपन्यास और कहानी दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं। यही कारण है कि कितने ही अच्छे उपन्यासकार अच्छे कहानीकार नहीं हो पाते और कितने ही अच्छे कहानीकार अच्छे उपन्यासकार नहीं हैं।

पहला अंतर जो कहानी के प्रत्येक पाठक के सामने रहता है वह लंबाई का है। उपन्यास कहानी से कहीं अधिक लंबा होता है। उपन्यास की कथा का प्रारम्भ अंत से बहुत दूर होता है, कहानी का बहुत निकट। अधिकांश कहानियों की घटनाओं का समय एक दिन होता है, कितनों ही का कुछ सप्ताह या कुछ महीने। उपन्यास का कथानक २, ४, १० वर्षों तक, कभी-कभी पीढ़ियों तक चल सकता है। समय का यह अंतर कला की दृष्टि से अनेक सूक्ष्म विभेद उत्पन्न कर देता है।

कहानीकार के लिए उपन्यासकार की अपेक्षा अधिक मनोवैज्ञानिक होना आवश्यक है। एक तो इसलिए कि उसे बहुत से तथ्यों में से कुछ थोड़े ऐसे तथ्य चुन लेना होते हैं जो मनोविज्ञान के किसी पहलू पर प्रकाश

डालते हों। दूसरे उसे पाठक की मानसिक प्रतिक्रिया का ध्यान रखना पड़ता है। उपन्यासकार के पास असीम चित्रपट है। वह यथार्थवादी के दृष्टिकोण से संसार को देखते हुए प्रत्येक घटना या वस्तु के वर्णन में कितने ही पृष्ठ भर सकता है। कहानीकार अपने क्षेत्र की सीमा के कारण ऐसा नहीं कर सकता। उसे इशारे से काम लेना पड़ता है। वह कुछ थोड़ी सी घटनाओं या वस्तुओं का इस प्रकार वर्णन करता है कि पाठक का मन स्वयम् चित्र में शेष वस्तुओं को सजाकर उसे अपने लिए पूर्ण कर लेता है।

दूसरी बात यह है कि उपन्यास के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अथ से इति तक एक ही घटना, एक ही रस, एक ही दृष्टिकोण अथवा प्रभाव को लेकर चले। कहानीकार के लिए यह पहली महत्वपूर्ण बात है। इसलिए उसे अपनी कथावस्तु (प्लॉट) को अधिक से अधिक संक्षिप्त और सादा बनाना पड़ता है जिससे वह उलझ न जाय और जिस प्रभाव की अपेक्षा उसे है, वह नष्ट न हो जाय। कहानी के आरंभ के वाक्य से अंत के वाक्य तक कथाकार अपने दृष्टिकोण में अंतर न पड़ने देगा और यह ध्यान रखेगा कि पाठक पर जो प्रभाव पड़ना शुरू हुआ है, वह बराबर अधिक गहरा होता जाय।

कहानी के संबंध में एक कठिनाई यह भी है कि उसमें चरित्र को पूरी तरह विकसित करने के लिए पर्याप्त स्थान नहीं रहता। उपन्यास में हम चरित्रों को भिन्न-भिन्न रूपों और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में देखते हैं और उसके बाद उनके संबंध में अपना मत स्थिर करते हैं। कहानी में हम चरित्र को विभिन्न रूपों और परिस्थितियों में सामने नहीं ला सकते। इतना अवकाश ही नहीं है। बहुधा तो कहानी में चरित्रों का विकास

परिस्थितियाँ बहुत कुछ अनुभूत होना आवश्यक है। नहीं तो उनमें हृदय को स्पर्श करने की शक्ति का अभाव होगा।

३—उपन्यास में सब से आकर्षक वस्तु उसका प्रवाह है जो लेखक की सृजन-शक्ति का प्रमाण होता है। सृजन-शक्ति के बिना सफल उपन्यासकार बनना असंभव है।

४—श्रेष्ठ उपन्यासकार साधारण मनुष्य के जीवन में भी महान मनोवैज्ञानिक रहस्यों का उद्‌घाटन कर सकते हैं।

५—उपन्यास के महत्त्वपूर्ण अंग हैं—

(१) मानसिक द्वन्द्व का चित्रण,

(२) वार्तालाप (कथोपकथन) की मनोवैज्ञानिकता और स्वाभाविकता,

(३) पात्रों के अनुरूप भाषा-शैली का प्रयोग,

(४) मनोभावों और मनोवेगों का रसपूर्ण चित्रण।

सच तो यह है कि आधुनिक उपन्यास में महाकाव्य के सारे उपकरणों का समावेश हो गया है। अन्तर केवल इतना ही है कि महाकाव्य असामान्य जीवन को लेकर चलता है और उपन्यास सामान्य जीवन को अधिक अपनाता है। वास्तव में, आधुनिक उपन्यास जीवन-चरित्र से अभिन्न है। परन्तु वह कल्पनात्मक जीवन-चरित्र है और उसमें यह शर्त नहीं है कि वह किसी महान व्यक्ति का जीवन-चरित्र हो। "वास्तविक जीवन-चरित्र में घटनाओं और तिथियों का जो विशिष्ट क्रम स्वीकार करना पड़ता है उसके कारण उसमें वास्तविक जीवन की अनुकूलता भले ही देख पड़े पर काव्य की नैसर्गिक पूर्णता प्राप्त करना उसके लिए कठिन है। जीवन-चरित्र देश और काल के अभेद्य बन्धन से बद्ध होकर कला की स्वतंत्र सत्ता से अलग जा पड़ता है। वह एक

प्रकार से साहित्य और विज्ञान के बीच की चीज़ है। उपन्यास में वैसा कोई बन्धन न रहने के कारण उसमें व्यक्तियों, वस्तुओं और व्यापारों को अधिक सुंदर मूर्तिमत्ता प्राप्त हो सकती है और उपन्यासकार कल्पना के रंग में रँग कर अपनी कथा अधिक रोचक बना सकता है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक उपन्यास पुराने कहानी-क़िस्सों से नितांत भिन्न है। वह एक साथ महाकाव्य, जीवन-चरित्र और कहानी की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

तो प्रश्न होता है—उपन्यासकार का लक्ष्य क्या हो? क्या वह कथा की रोचकता को ही सब कुछ समझ ले, या व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक या चारित्रिक अध्ययन को ही अपना ध्येय बना ले, या उसमें रसपुष्टि और उदात्त चरित्रों की सृष्टि पर ही अधिक ध्यान दे? आज हम सामंतयुग से दूर जा पड़े हैं। विज्ञान ने श्रद्धा-बल पर बड़ा तीव्र आघात किया है। आज तो धरती का किसान और मिल का मज़दूर ही सभ्यता और संस्कृति का बोझ ढोने जा रहा है। उदात्त चरित्रों और देवताओं की सृष्टि आज के कलाकार का लक्ष्य नहीं हो सकती। आज तो सामान्य चरित्रों की दुर्बलताओं के भीतर से ही हमें नये मानव-जीवन का संदेश देना है। इसी से महाकाव्यों के उदात्त तत्त्वों को अपना कर भी आज का उपन्यासकार महाकाव्य से भिन्न चीज़ देता है। हार्डी जैसे कुछ उपन्यासकार भले ही प्रकृति और मानव के प्रतिक्रियात्मक जीवन और रसनिरूपण को अपना ध्येय बनायें, शरत् की तरह के चरित्रकार मानव जीवन के सुख-दुख और सामाजिक और राजनैतिक विषमताओं को ही काव्यात्मक रूप देंगे और आज के युग में साहित्य की यही पुकार है। जीवन की सारी उलझनें, जीवन की सारी विस्तृत चित्रपटी, जीवन का सारा वैषम्य आज के

घुलमिल गई हो कि कथा का आवश्यक अंग बन जाये, अन्यथा उपन्यास की दशा उस घर की-सी होगी जिसके हरेक हिस्से अलग-अलग हों। जब लेखक अपने मुख्य विषय से हटकर किसी दूसरे प्रश्न पर बहस करने लगता है तो वह पाठक के उस आनंद में बाधक हो जाता है जो उसे कथा में आ रहा था। उपन्यास में वही घटनायें, वही विचार लाना चाहिये जिनसे कथा का माधुर्य बढ़ जाय, जो प्लॉट में सहायक हों अथवा चरित्रों के गुप्त मनोभावों का प्रदर्शन करते हों।"

"उपन्यास के चरित्रों का चित्रण जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकास-पूर्ण होगा उतना ही पढ़ने वालों पर उसका असर पड़ेगा × ×।"

"...उपन्यास चरित्रों के विकास का ही विषय है। अगर उसमें विकास-दोष है, तो वह उपन्यास कमज़ोर हो जायगा। कोई चरित्र अंत में भी वैसा ही रहे जैसा वह पहले था—उसके बल-बुद्धि और भावों का विकास न हो, तो वह असफल चरित्र है।"

"जिस उपन्यास को समाप्त करने के बाद पाठक अपने अंदर उत्कर्ष का अनुभव करे, उसके सद्भाव जाग उठें, वही सफल उपन्यास है।"

"आजकल के उपन्यासों और आख्यायिकाओं में अस्वाभाविक बातों के लिए गुंजाइश नहीं है। इनमें हम अपने जीवन का प्रतिबिंब देखना चाहते हैं। उसके एक-एक वाक्य को, एक-एक पात्र को यथार्थ के रूप में देखना चाहते हैं। उनमें जो कुछ भी हो वह इस तरह लिखा जाय कि साधारण बुद्धि उसे यथार्थ समझे। घटना वर्तमान कहानी या उपन्यास का मुख्य अंग नहीं है। उपन्यासों में पात्रों का केवल बाह्य रूप देखकर हम संतुष्ट नहीं होते। हम उनके मनोगत भावों तक पहुँचना चाहते हैं।"

"मानसिक द्वन्द्व वर्तमान उपन्यास या गल्प का खास अंग है।"

"वर्तमान आख्यायिका या उपन्यास का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएँ और पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के निमित्त ही लाये जाते हैं। उनका स्थान बिलकुल गौण है।"

(कहानी-कला, ३)

"उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की क़लम से जितना भी कम लिखा जाय, उतना ही उपन्यास सुन्दर होगा।"

"वार्तालाप केवल रस्मी नहीं होना चाहिये। प्रत्येक वाक्य को—जो किसी चरित्र के मुँह से निकले—उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ न कुछ प्रकाश डालना चाहिये।"

"बातचीत का स्वाभाविक, परिस्थितियों के अनुकूल, सरल और सूक्ष्म होना ज़रूरी है।"

"शिक्षित समाज की भाषा तो सर्वत्र एक ही है। हाँ, भिन्न-भिन्न जातियों की ज़बान पर उसका कुछ न कुछ बदल जाता है। बंगाली, मारवाड़ी और एंग्लो-इंडियन भी कभी-कभी बहुत शुद्ध हिंदी बोलते पाये गये हैं, लेकिन यह अपवाद है, नियम नहीं; पर ग्रामीण बातचीत कभी-कभी हमें दुविधा में डाल देती है। बिहार की ग्रामीण भाषा शायद दिल्ली के आसपास का आदमी समझ ही न सकेगा।"

(उपन्यास का विषय)

उपन्यास के सम्बन्ध में इन उदाहरणों में प्रेमचंद ने जो कुछ कहा है उसका सारांश इस प्रकार है—

१—उपन्यास मानवचरित्र का चित्र है।

२—उपन्यास की कथावस्तु कल्पित हो सकती है, परन्तु घटनाएँ और

यथार्थ का ही भ्रम होता है।" साहित्य का मुख्य उद्देश्य आनंद ही है परंतु उस आनंद के साथ लगभग उतनी ही महत्ता की चीज़ है उसकी उपयोगिता। प्रेमचंद स्वतः साहित्य को प्रचार (समाज सुधार आदि) का साधन बनाते हैं। साहित्य का कोई विषय तो होगा ही। फिर हम उसमें प्रगतिशील दृष्टिकोण क्यों न रखें, परिस्थिति का आनंद ही लेकर क्यों रह जायें, क्यों उसके ऊपर उठने की चेष्टा न करें ? ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रेमचंद को नग्न यथार्थवाद और निरर्थक (आनंदवादी) यथार्थवाद से चिढ़ थी। वह यथार्थवाद भी उन्हें मान्य न था जो हमें हतोत्साह कर दे, हमको विषमय बना दे। वह यथार्थवाद को पूर्ण परन्तु संयत रूप में ग्रहण करने और उस पर आदर्शवाद की छाप छोड़ने के पक्षपाती थे। वह लिखते हैं—"यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों से जकड़ा होता है और चूंकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है—यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग-धब्बे रहते हैं—इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमें निराशावादी बना देता है। मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ़ बुराई ही बुराई नज़र आने लगती है।" प्रेमचन्द ने अपने लिए एक बीच का मार्ग निकाल लिया है। इसे वह "आदर्शोन्मुख यथार्थवाद" कहते हैं। इसका यह अर्थ है कि वे समस्याओं, परिस्थितियों और व्यक्तियों की पतनोन्मुख प्रवृत्तियों के चित्रण में यथार्थवादी थे, यद्यपि सुरुचि का वे सदा ध्यान रखते थे। परन्तु वह प्रत्येक समस्या का हल समझौते में ढूँढ़ लेते थे। परिस्थितियों पर मनुष्य की विजय वे इसी तरह घोषित करते हैं और

उनके पात्रों की सद्प्रवृत्तियाँ उनकी कुप्रवृत्तियों को परास्त कर देती हैं। प्रेमचंद के व्यक्तित्व में यथार्थ और आदर्श का संघर्ष संगम के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। फलस्वरूप उनकी रचनाओं के पूर्वांग यथार्थवाद से प्रभावित हैं, उत्तरांग आदर्शवाद से प्रेरित हैं। सभी बड़े उपन्यासों में यही बात दिखलाई देगी। उनकी आधारवस्तु अत्यंत ठोस है, उनके निजी गहरे अनुभव और तीव्र पर्यवेक्षण की उपज है। परंतु उस आधारवस्तु को ज्यों-का-त्यों रखकर प्रेमचंद स्वयं उपस्थित हो जाते हैं और सूत्र को अपनी आदर्शवादी प्रकृति के हाथ में दे देते हैं। यही उनकी सीमा है। वे मनुष्य की कमज़ोरियाँ दिखाते हैं और खूब दिखाते हैं और कहीं-कहीं पात्र उन कमज़ोरियों के ही शिकार हैं, जैसे 'प्रेमाश्रम' का ज्ञानशंकर और 'गोदान' का होरी। परन्तु वे अधिकत: उन कमज़ोरियों की आँच में तपकर देवता होकर निकलते हैं। अमरकांत, विनय, सूरदास आदि कितने ही प्रमुख पात्रों की यही परिस्थिति है।

वास्तव में यथार्थवाद और आदर्शवाद का संघर्ष सत्यं और शिवं के संघर्ष का ही एक रूप-मात्र है। उपन्यासकार यदि कलाविद् है तो वह सुन्दरं तो देगा ही, सत्यं को वह कितना दे और उसमें शिवं की भावना से कहाँ तक संचालित हो, यह प्रश्न तो रह ही जाता है। साहित्यकारों और समीक्षकों का एक वर्ग कहता है—हमें शिवं (उपयोगितावाद या लोक-कल्याण) की क्या आवश्यकता, हम तो सुन्दरं के उपासक हैं! दूसरा वर्ग साहित्य और कला को उपयोगिता की तुला पर तौलना चाहता है। परन्तु यह उपयोगिता ठीक रुपया-आने-पाई में आँकी जा सकती हो, ऐसी बात नहीं। वह उपयोगिता है सौन्दर्यवृत्ति की पुष्टि, सांसारिक सुख-दु:ख को सहन करने की शक्ति, बंधुत्व और समता का

उपन्यास में जीवित हो उठता है। जीवन यदि विधाता की सृष्टि है, तो उपन्यासकार उसकी होड़ में अपनी सृष्टि उपस्थित करता है। इस अपनी सृष्टि को वह विधाता की सृष्टि के अनुकरण में भले ही खड़ा करे, वह अपनी सृष्टि के द्वारा विधाता की सृष्टि की आलोचना भी करता है। समसामयिक जीवन की सारी अपूर्णता को लेकर वह भावी पीढ़ियों के लिए नई पूर्णता और नए जीवन-दर्शन का संदेश देता है। आज का उपन्यासकार सच ही ऋषि और युगद्रष्टा है।

यथार्थवाद और आदर्शवाद

यहीं से कथाकार के व्यक्तिगत दृष्टिकोण का प्रश्न आरंभ होता है। क्या वह फोटोग्राफ़र की तरह व्यक्ति और समाज में जो जैसा है वैसा चित्रित कर दे या जैसा संभाव्य है वैसा। वह यथार्थवादी हो या आदर्शवादी? प्रेमचंद ने इस प्रश्न पर भी व्यापक रूप से विचार किया है। यथार्थवाद और आदर्शवाद की तुलना करते हुए वे लिखते हैं—

"आदर्शवादी कहता है, यथार्थ का यथार्थ रूप दिखाने से फ़ायदा ही क्या, वह तो हम अपनी आँखों से देखते ही हैं। कुछ देर के लिए तो हमें इन कुत्सित व्यवहारों से अलग रहना चाहिये; नहीं तो साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही गायब हो जाता है। वह साहित्य को समाज का दर्पण नहीं मानता; बल्कि दीपक मानता है जिसका काम प्रकाश फैलाना है। भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद का ही समर्थक है। हमें भी आदर्श ही की मर्यादा का पालन करना चाहिये।"

(कहानी-कला, १)

"वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया है। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते

हैं। आदर्श को सजीव बनाने के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सब से बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर लें।"

"अँधेरी गर्म कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं तो इच्छा होती है कि किसी बाग में निकल कर निर्मल स्वच्छ वायु का आनंद उठायें—इस कमी को आदर्शवाद पूरा करता है।"

"यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शङ्का है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धांतों की मूर्तिमात्र हो—जिनमें जीवन न हो।"

(उपन्यास)

वास्तव में कला के सत्य की पूर्ति न केवल यथार्थवाद से होती है, न आदर्शवाद से। केवल यथार्थवाद को साहित्य समझने वाले नग्नता को साहित्य समझ लेते हैं। इसीलिए प्रेमचंद ने कहा है—"यथार्थवाद स्तुत्य है, परन्तु नग्न यथार्थता घृणित है।" (कायाकल्प में चक्रधर) श्रेष्ठ साहित्य में आदर्शवाद और यथार्थवाद का लोकमंगलकारी गठबन्धन शर्त है। "अमंगल यथार्थ अग्राह्य है, मंगलमय यथार्थ संग्रहणीय है, यदि वह अपवाद रूप भी हो।"

"साहित्य उस मानव-मन की संतुष्टि है जो अपने चारों ओर के छल, क्षुद्रता और कपट से ऊपर उठकर ऐसे लोक में पहुँचना चाहता है जहाँ उसे इनसे छुटकारा मिले। इतना होने पर वह यथार्थ को नहीं छोड़ सकता। वह यथार्थ के इतने निकट है कि उसकी रचनाओं से

भाव अथवा सहृदयता का विकास एवं मानसिक एवं बौद्धिक विकास। इसीलिए कलाकार को जीवन-संग्राम में सौन्दर्य देखना है। उसका काम है त्याग, श्रद्धा, कष्ट, सहिष्णुता की महिमा; आदर्शवाद, साहस, कठिनाई से मिलने की इच्छा और आत्म-त्याग का शंख बजाना। इसीलिए प्रेमचन्द ने एक स्थान पर कहा है—"साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवारें खड़ी होती हैं। उसकी अट्टारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते हैं। लेकिन बुनियाद मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। उसे देखने को जी भी न चाहेगा। जीवन परमात्मा की सृष्टि है; इसलिए अनन्त है, अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है; इसलिए सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिमित है। जीवन परमात्मा को अपने कार्यों का जवाबदेह है; इसके लिए क़ानून हैं, जिनसे वह इधर-उधर नहीं हो सकता।" सच तो यह है कि सभी महान् कलाकार लोक-कल्याण की भावना से क़लम चलाते हैं। उनके लिए साहित्य विलास नहीं है, वह एक महान् अस्त्र है जिसके द्वारा वह पीड़ित मानवता को दुःखों से मुक्त करते हैं और उसे आशा और प्रकाश का उपदेश देते हैं। केवल कला, विलास और कल्पना के ताजमहल भले ही लोगों को लुभा लें, उनमें साहित्य का शव ही सुरक्षित रहता है; जीवित-स्पंदित साहित्य को कल्पना के ताजमहल नहीं चाहिये। वह तो सामान्य मनुष्य के प्रतिदिन के जीवन में ही सुन्दरं और शिवं की खोज कर लेता है। इस प्रकार महान् कलाकारों की रचनाओं में यथार्थ और आदर्श का संघर्ष स्वतः हल हो जाता है।

उपन्यास के कोटिक्रम

उपन्यास के अनेक भेद किये जा सकते हैं। कथावस्तु किस क्षेत्र से

ली गई है, उसका उद्देश्य क्या है, उसकी शैली क्या है, इन तीनों दृष्टिकोणों से उपन्यास के अनेक भेद किये गये हैं। साधारणतः उपन्यासों के कोटि-क्रम की एक तालिका इस प्रकार उपस्थित की जा सकती है—

(१) कथा-प्रधान उपन्यास
  (क) तिलिस्मी उपन्यास
  (ख) साहसिक उपन्यास
  (ग) जासूसी उपन्यास
  (घ) प्रेमाख्यानक उपन्यास
  (ङ) ऐतिहासिक उपन्यास
  (च) पौराणिक उपन्यास
  (छ) अन्य कथा-प्रधान उपन्यास
(२) चरित्र-प्रधान उपन्यास
(३) प्राकृतवादी उपन्यास
(४) भावप्रधान उपन्यास

कथा-प्रधान उपन्यासों का उद्देश्य मुख्यतः मनोरंजन रहता है। कहानी चाहे तिलिस्म से सम्बन्ध रखती हो, या जासूसी दाँव-पेच से अथवा किसी इतिहास एवं पुराण कथा को उसका आधार बनाया गया हो, जहाँ केवल कथा की मनोरंजकता पर बल है, वहाँ अनेक प्रकार की बनावटी घटनाओं और संयोजित घटनाचक्रों का प्राधान्य रहेगा। प्रेमाख्यानक (नायक-नायिका-प्रधान) और पौराणिक कथाकाव्यों की परम्परा हमारे साहित्य में मध्ययुग से चली आती है। आधुनिक युग के प्रेमाख्यानक और पौराणिक उपन्यास इसी परम्परा का विकास हैं।

तिलिस्मी, साहसिक और जासूसी उपन्यासों का श्री गणेश 'तिलिस्म होशरुबा' और ब्लेक और शर्लाक होम्स के अनुकरण में हुआ। इतिहास से सम्बन्धित घटनाओं को लेकर उपन्यास और कहानी लिखने में 'प्रसाद' और बृन्दावनलाल वर्मा अग्रणीय हैं। आधुनिक काल की राजनैतिक समस्याओं ने लेखकों का ध्यान भारत के गौरवपूर्ण अतीत की ओर आकर्षित किया। ऐतिहासिक उपन्यास इसी का फल हैं। परन्तु कथा-प्रधान उपन्यासों को कला की दृष्टि से अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता। उपन्यास-लेखन की चोटी की कला चरित्र-प्रधान उपन्यासों में ही प्रगट होती है। स्टीवेन्सन (Stevenson) जैसे कुछ कलाकार चरित्र-चित्रण की अपेक्षा घटना-संघटन-कौशल को अधिक महत्व देते हैं। स्टीवेन्सन का कहना है :

The greatest triumph of the novelist is the power to create so perfect an illusion to represent situations of interest with so irresistible an appeal to the imagination, that the reader shall for the moment identify himself with the characters of the story and seem to experience the adventures in his own person. अर्थात् "उपन्यासकार की सबसे बड़ी सफलता यह है कि वह एक ऐसी भ्राँति की सृष्टि कर दे और रोचक परिस्थितियों को ऐसी कुशलता के साथ अंकित करे कि पाठकों की कल्पना उससे आकर्षित हुए बिना न रह सके और वे उस क्षण के लिए अपने को कहानी के पात्रों में से एक समझने लगें और उनके कृत्यों को व्यक्तिगत रूप से अपना समझ कर अनुभव करने लगें।" परन्तु अधिकांश कलाकार उपन्यास के उद्देश्य

को मनोरंजन से ऊँचा बताते हैं। हो सकता है समाज-सुधार, राजनैतिक परिवर्तन या किसी प्रकार का नैतिक प्रचार निकृष्ट उद्देश्य जान पड़े, परन्तु इसमें कोई अनिश्चय नहीं कि मनुष्य-चरित्र के भीतर डूब कर जीवन के नये-नये स्तर खोलना उपन्यासकार के लिए बुरा लक्ष्य नहीं होगा। जो 'कला कला के लिए' पक्ष के समर्थक हैं वे चिल्लाते हैं—

In the interest of novel and social progress as well as in the interest of art, a protest must be raised against the novel with a purpose. The schemes of improvement which moralist and political thinkers devise can in fairness be presented to the public for general approval only on their own merits, set forth with whatever skill in statement they can command. To take the public unawares through an irrelevant appeal to their feelings is to use an unjust and mischievous advantage. अर्थात्—"उपन्यास, सामाजिक उन्नति और कला के हित के लिए भी उपदेश-उपन्यास के विरुद्ध आंदोलन अवश्य होना चाहिए। सुधारकों और राजनीतिज्ञों द्वारा आविष्कृत सुधार-साधनों को केवल अपने ही मूल गुणों के बल पर जनता की स्वीकृति के लिए उसके सामने अपनी भरसक योग्यता के अनुसार रखना अधिक उचित होगा। एक अप्रासंगिक साधना द्वारा अचानक जनता की भावनाओं को प्रभावित करना उस (साधन) का अनुचित और दुष्ट प्रयोग करना है।" जो हो, यह निश्चित है कि उत्कृष्ट कलाकार केवल उपदेश-मात्र नहीं देता; वह जो कुछ भी देता है वह कला के माध्यम से

देता है और इसीलिये उसकी देन महत्वपूर्ण रहती है। प्राकृतवादी उपन्यास और भावप्रधान उपन्यास कला और महत्व की दृष्टि से चरित्र-प्रधान उपन्यास की तुलना नहीं कर सकते। प्राकृतवादी उपन्यास में जीवन के गुह्य, नगण्य और नग्नतम कोने झाँके जाते हैं—नग्न यथार्थ, मानव की पशु-प्रवृत्तियों का वैज्ञानिक विश्लेषण, यही इन उपन्यासों की पूँजी है। जीवन के स्वस्थ और प्रकाशपूर्ण स्थल इन उपन्यासों के पृष्ठों को नहीं छूते; अतः इनका दृष्टिकोण एकांगी रह जाता है। भावप्रधान उपन्यास में न कथा-सौष्ठव पर ध्यान दिया जाता है, न चरित्र-चित्रण पर। अलंकृत भाषा-शैली और भावप्रवाह के द्वारा लेखक पाठकों को भावुकतापूर्ण विद्रोह के लिए उभारता है।

ऊपर के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि उपन्यास का सबसे कठिन और सर्वोच्च भेद चरित्र-प्रधान उपन्यास है। यहीं उपन्यासकार की सृजन-शक्ति की परख होती है। चरित्र-प्रधान उपन्यासों में कथावस्तु और पात्रों के चरित्र में एक अत्यन्त सुन्दर कलात्मक गठबन्धन रहता है। उपन्यासकार पहले कुछ विशिष्ट चरित्रों की कल्पना करता है और फिर इन चरित्रों को किसी विशेष परिस्थिति में हमारे सामने उपस्थित कर देता है। परिस्थितियों और विभिन्न पात्रों की स्वभावगत विषमताओं के संघर्ष से कथासूत्र आगे बढ़ता है और वह उस समय तक बढ़ता रहता है जब तक इन परिस्थितियों और स्वभावों के टक्कर के फलस्वरूप वह बढ़ सकता है। एक बार चरित्रों की रूपरेखा अपने मन में स्थिर कर लेने के बाद उपन्यासकार उन्हें हाड़-मांस के बने मनुष्यों की तरह स्वतंत्र छोड़ देता है। विधाता की सृष्टि की तरह उसकी सृष्टि भी स्वतंत्र है। वह जीते या हारे। अंत दुःखांत हो, या सुखांत। कथा का सूत्र उन्यासकार

के हाथ में नहीं है; या तो स्वयम् पात्रों के चरित्र (स्वभाव) के हाथ में है, या उन परिस्थितियों के जो उन्हें एक विशेष दिशा में क्रियाशील बनाती हैं। फिर चरित्रों के स्वभाव भी कोई स्थिर वस्तु नहीं है। अच्छे उपन्यास में चरित्रों का क्रमिक विकास होता रहता है और यह विकास कथावस्तु पर भी प्रभाव डालता है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह विकास बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। चरित्र-प्रधान उपन्यासों में चरित्रों की शारीरिक और नैतिक विशेषताएँ, उनकी व्यक्तिगत रुचि, उनके आदर्श, उनकी भावना और उनकी कमज़ोरी का पूरा पूरा चित्र उपस्थित करना होता है। सचमुच यह बड़ा कठिन काम है। सच तो यह है कि मनुष्य बड़ा जटिल प्राणी है। इसी से मनुष्य-चरित्र का ठीक-ठीक अंकन कोई सरल बात नहीं है। प्रेमचन्द ने ठीक ही लिखा है : 'मानव-चरित्र न बिल्कुल श्याम होता है न बिल्कुल श्वेत। उसमें दोनों ही रंग का विचित्र सम्मिश्रण होता है, किन्तु स्थिति अनुकूल हुई तो यह ऋषितुल्य हो जाता है। प्रतिकूल हुई तो नराधम।' वास्तव में गतिशील मानव-चरित्र का चित्रण सरल काम नहीं है। उसके लिए एक विशेष प्रकार की प्रतिभा और एक विशेष ढंग की सृजनात्मक कल्पना (Creative Imagination) होनी चाहिये।

उपन्यास के अंग

उपन्यास का विश्लेषण करते समय उसे कई अंगों में बाँट दिया जाता है—

(१) उद्देश्य या बीज

(२) कथानक

(३) चरित्र

(४) वर्णनशैली
(५) जीवन-दर्शन

उद्देश्य के सम्बन्ध में अभी-अभी विचार कर चुके हैं। वास्तव में सारे उपन्यास के भीतर उद्देश्य या बीज की अवस्थिति अत्यन्त सूक्ष्म रूप में होती है। जिस जीवन का चित्र उपन्यासकार हमारे सामने उपस्थित कर रहा है उसके विषय में उसके क्या विचार हैं। यह आवश्यक नहीं कि वह स्पष्ट रीति से जीवन की व्याख्या या आलोचना करे। परन्तु कथावस्तु और पात्रों के संघटन में अनायास ही उसका जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण उसे प्रभावित करेगा। नाटक और उपन्यास साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा जीवन के साथ सबसे अधिक और घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। अतः नाटककार और उपन्यासकार से हम केवल दो घड़ी के मनबहलाव की आशा नहीं करते। इसी से लगभग सभी महान नाटककार और उपन्यासकार जीवन-दर्शन को लेकर उपस्थित होते हैं और समसामयिक जीवन के लिए उनके संदेश सदैव महत्वपूर्ण रहते हैं। उपन्यास का उद्देश्य (या बीज) उसके जीवन-दर्शन से अत्यन्त निकट रूप से सम्बंधित होता है। परन्तु श्रेष्ठ उपन्यासकार न अपने जीवन-दर्शन का ढँढोरा पीटते हैं, न अपने लक्ष्य को ही पुकार-पुकार कर स्थापित करना चाहते हैं। कथानक, चरित्र (पात्र) और वर्णन-शैली द्वारा ही वह पाठक को जीवन के रहस्य के भीतर ले जाते हैं।

उपन्यास का सबसे प्रधान अंग उसकी कथावस्तु है। जहाँ कथावस्तु ही नीरस है, वहाँ उपन्यास उपन्यास नहीं रह जाता। परंतु कथा की रोचकता से यह तात्पर्य नहीं कि लेखक उसे असंभव घटनाओं और

विचित्र भूलभुलैयों से भर दे। हमने उपन्यास के भेद करते समय कथावस्तु के भी भेद कर दिये हैं। कथावस्तु तिलिस्मी, साहसिक, जासूसी, प्रेमप्रधान, ऐतिहासिक, पौराणिक या सामान्य जीवन से संबंधित हो सकती है। सामान्य जीवन से संबंधित कथावस्तु ही सबसे उत्कृष्ट है। उसमें सामान्य जीवन की स्वाभाविकता होती है जो स्वयं एक बड़ा आकर्षण है। अन्य प्रकार की कथावस्तु में कल्पना-विलास की मात्रा ही अधिक होती है। प्रतिदिन के सामान्य जीवन में अनेक ऐसे तत्त्व हैं जो हमें निरन्तर उत्साहित करते रहेंगे और जिनके लिए हम श्रेष्ठ उपन्यासकार के चिर आभारी रहेंगे। परन्तु यह स्मरण रखने योग्य है कि वस्तु की स्वाभाविकता, श्रेष्ठता और रोचकता से ही कोई उपन्यास बड़ा नहीं हो जाता। यदि उपन्यासकार ने हमें ऐसे चरित्रों से परिचय नहीं कराया जो हमारे मन पर अपनी छाप छोड़ दें, जो जीवन-यात्रा में हमारा साथ दें, हमें आनंदित और उत्साहित करते रहें, जिनसे एक बार परिचित होकर जीवनपर्यंत हम भूल न सकें, तो वह श्रेष्ठ कथाकार हो सकता है, श्रेष्ठ उपन्यासकार नहीं। महान् पात्रों का सृजन ही उपन्यासकार को चिरजीवी बनाता है। परन्तु प्रत्येक उपन्यासकार के लिए यह संभव नहीं है कि वह सूरदास, होरी, विनय, अमरकांत और सोफ़िया उपस्थित कर सके। उसे इसी में संतुष्ट रहना पड़ता है कि वह कथावस्तु और पात्रों के चरित्र-चित्रण में बराबर संतुलन रखे, न कथा को अरोचक होने दे, न पात्रों को व्यक्तित्वहीन। श्रेष्ठ उपन्यासकार पहले अपने पात्रों की रूपरेखा गढ़ लेते हैं और फिर उनके चरित्रों की स्वाभाविक गति से कथा का निर्माण करते हैं। इस प्रकार पात्रों के चरित्र और कथावस्तु में एक अनिवार्य संबंध स्थापित हो जाता है।

उपन्यासकार पात्रों का विधाता है, परन्तु वह एक बार उन्हें जन्म देकर फिर उनके जीवन से खेल नहीं कर सकता। पात्रों के स्वभाव को ध्यान में रखते हुए जिन संभाव्य घटनाओं की योजना वह करता है, वे ही उसके हाथ बाँध देती हैं। अपनी इस सीमा के भीतर उसे अपने पात्रों के शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक (आध्यात्मिक) जीवन का क्रमविकास दिखाना होता है और परिस्थितियों की प्रतिक्रिया के द्वारा उन्हें निरंतर गतिशील (Dynamic) बनाना होता है। पात्र संकल्प-जात हैं। परन्तु उनमें स्वयं अपनी संकल्पशक्ति विकसित हो जाने पर वे अपनी इच्छा के अनुसार भागने-दौड़ने लगते हैं। जिस प्रकार सामान्य जीवन में मनुष्य मनोवेगों से प्रेरित हो विशेष-विशेष कार्य करता है, उसी प्रकार पात्र भी मनोवेगों से परिचालित होते हैं।

यहीं शैली का प्रश्न उपस्थित होता है। यदि उपन्यासकार को केवल रोचक-कहानी मात्र देना होती तो यह कोई कठिन बात नहीं थी। वह ऐतिहासिक या अन्य पुरुषवाचक शैली से शुरू करता और उसी से अंत कर देता। परन्तु उसे केवल कथा ही कहना नहीं है। उसे पात्रों के आंतरिक जीवन को भी चित्रित करना है। इसीलिए उसे बीच-बीच में अनेक प्रकार की शैली लाना होती हैं। परन्तु उसका सबसे बड़ा सहारा संवाद या कथोपकथन है। कथोपकथन के द्वारा ही वह पात्रों के आंतरिक संघर्ष और उनकी भाव-धाराओं और विचार-धाराओं को प्रकाशित कर सकता है। पात्रों के राग-द्वेष, उनकी प्रवृत्तियाँ, उनके मनोवेग इत्यादि संवाद द्वारा जिस कुशलता से चित्रित हो जाते हैं, उतने स्वयं लेखक के वर्णन से नहीं। उपन्यास की स्वाभाविकता का सबसे बड़ा आधार भी वही है। रसपूर्ण स्थलों में उपन्यासकार चाहे जितनी

अलंकारिक और काव्यात्मक शैली का प्रयोग करे, कथोपकथन में तो उसे धरती पर उतरना ही पड़ता है।

उपन्यास-पाठ

साधारणतः उपन्यास पढ़ने का उद्देश्य मनोरंजन होता है। "एक राजा था, एक रानी थी, वे निःसंतान थे।"—दादी-नानी बच्चों को इस प्रकार की कहानियाँ सुनाया करती हैं। इनका उद्देश्य होता है, कौतूहल की उत्पत्ति और फिर कुतूहली-वृत्ति की तृप्ति। जब कहानी शुरू कर दी जाती है तो सुनने वाला चाहे बच्चा हो या प्रौढ़ सुनाने वाले से यही आशा की जाती है कि वह बराबर घटनाओं की शृंखला बाँधता चलेगा और सुनने वाले की कुतूहल वृत्ति को जागृत रखेगा। "आगे क्या होता है, देखें!" कहानी सुननेवाला यही चाहता है। उसके लिए कब, क्यों, कैसे, आते ही नहीं। इसी सतत जागृत जिज्ञासा और उसकी बराबर तृप्ति के कारण श्रोता का मन कहानी में लग जाता है। अतः मनोरंजन के मूल में श्रोता की "आगे क्या? फिर क्या है?" यह जिज्ञासावृत्ति ही है।

मनोरंजनकारी होना स्वतः एक बड़ा गुण है। जब हम दिन भर के परिश्रम से थक जाते हैं या किसी वैज्ञानिक वार्ता से हमारा मन उचट जाता है तो हम उपन्यास उठाते हैं और उसे पढ़ डालते हैं। थोड़ी ही देर में हम तन्मयता से उपन्यास पढ़ने में लग जाते हैं और जब हम उपन्यास समाप्त कर चुकते हैं तो हममें नई स्फूर्ति जागी मिलती है। ताश, शतरंज, केरम आदि कितने ही घरेलू मनोरंजन हैं। उपन्यास भी इसी श्रेणी की वस्तु है—कम से कम जहाँ तक मनोरंजन का प्रश्न है, वहाँ तक। उससे हमारी कुतूहलवृत्ति भी शांति पाती है।

परन्तु उपन्यास की मनोरंजकता को हानिलाभ की श्रेणी में नहीं रखा जा जाता। शुद्ध हानि-लाभ की दृष्टि से विचार करें तो उपन्यास ही क्या, समस्त आनन्द-मूलक साहित्य तुच्छ निकलेगा। पंजाब में प्रेमचंद गये तो एक पंजाबी सज्जन ने उन्हें बताया कि उसने उनकी एक कहानी पढ़कर, अपना आचरण उसके नायक के अनुकूल बनाकर, सहस्रों की सम्पत्ति इकट्ठी कर ली है। परन्तु ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं, अपवाद हैं। उपन्यास या कहानी पढ़कर कोई बड़ा व्यवसायी नहीं हो जाता। उपन्यास या कविता के पाठ से लाभ ही क्या है? श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने मेघदूत के संबंध में लिखते हुए कहा है कि शुद्ध उपयोगितावाद की दृष्टि से मेघदूत पढ़ने से इतना ही लाभ हो जाता है कि हम निश्चय पूर्वक जान जाते हैं कि आषाढ़ का पहला दिन कालिदास के समय में भी निश्चित अवधि पर आता था। परन्तु यहाँ हमें इस तरह की उपयोगिता पर विचार नहीं करना है। हमें यह देखना है कि उपन्यास-पाठ से पाठक की बुद्धि को क्या मिलता है, हृदय क्या पाता है। सबसे पहला लाभ है रस की अनुभूति। उपन्यास के रसपूर्ण स्थल रसानुभूति प्रदान करने में उतने ही सफल होते हैं जितने महाकाव्य के रसपूर्ण प्रसंग। वह आनन्द जो हमें रस की अनुभूति से मिलता है मनोरंजन की श्रेणी का नहीं है—उसे "ब्रह्मानन्द सहोदर" कहा गया है। दूसरा लाभ है सहानुभूति का विस्तार। उपन्यास में हम बहुत से ऐसी श्रेणी के लोगों से परिचित होते हैं जिनसे हम जीवन में परिचय प्राप्त नहीं करते। हम देखते हैं कि उनमें भी वही प्रवृत्तियाँ काम कर रही हैं जो हममें काम कर रही हैं। प्राचीन महाकाव्यों और नाटकों में राजा-महाराजा विषय बनाये जाते थे। ग्रीक नाटकों में इन विशेष व्यक्तियों के जीवन को

दुखांत बनाकर जनता की संवेदना तीव्र की जाती थी। आज के उपन्यास और नाटकों के विषय हैं क्षुद्र, उपेक्षित! उनका जीवन दुखांत ही दिखाया जाय, इस पर भी कलाकार को कोई आग्रह नहीं है। परंतु दोनों अवस्थाओं में हमारी सहानुभूति अपनी ही भाँति दूसरे इतर वर्ग के प्राणियों को स्पर्श करती है। इससे यह लाभ होता है कि हमारी मनो-वृत्तियाँ कोमल हो जाती हैं और हम प्रतिदिन के जीवन में अधिक सहन शील हो जाते हैं। चौथा लाभ यह है कि उपन्यास के द्वारा हम मानव-चरित्र से परिचित हो जाते हैं। प्रेमचंद की दृष्टि में "मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।" भावी उपन्यास की रूपरेखा का अनुमान लगाते हुए वे कहते हैं— "यों कहना चाहिये कि भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। उसकी छुटाई-बड़ाई का फ़ैसला उन कठिनाइयों से किया जायगा कि जिन पर उसने विजय पाई है। हाँ, वह चरित्र इस ढंग से लिखा जायगा कि उपन्यास हो।" इस प्रकार उपन्यास पढ़कर हम मानव के मूल मनोविज्ञान, मनुष्य-मनुष्य की विभिन्नता और सौम्य और उज्ज्वल चरित्रों के विश्लेषण से ही लाभ नहीं उठा सकेंगे; हमें उनसे वह बल, उत्साह, शिक्षा और समर्थन मिलेगा जो जीवन-चरित्र पढ़ने से मिलता है।

उपन्यास पढ़ने से कुछ हानियाँ भी हैं परंतु वास्तव में प्रत्येक अच्छी वस्तु का दुरुपयोग हो सकता है और हानि की आशंका हो सकती है। उपन्यास के विषय में भी यही बात लागू है। सच तो यह है कि उपन्यास पढ़ने से कोई भी हानि नहीं है, लाभ ही लाभ है। हानि का प्रश्न उसी समय उठता है जब दूसरी-तीसरी श्रेणी के उपन्यासों के पठन-पाठन की

एकांकी के माध्यम से रङ्गमंच पर आकर हमारा मन बहला सकता है—यही नहीं, वह कला के माध्यम से उस विषय को कुछ इस तरह हमारे सामने रखेगा कि हम केवल प्रेक्षक ही नहीं बने रहें, उस वस्तु पर कुछ सोचें। सच तो यह है कि एकांकी के रङ्गमंच द्वारा आज नई सामाजिकता का जन्म हो रहा है और अब रङ्गमंच अमर समस्याओं और रोमांचक घटनाओं तक ही सीमित नहीं रह गया। एकांकी के द्वारा रङ्गमंच ने नई समाज-क्रांति के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ा है।

६

कहानी

एक शब्द में 'कहानी' की परिभाषा देना कठिन है, परन्तु कहानी क्या है, कौन चीज़ कहानी है, कौन चीज कहानी नहीं है, यह बात हम-आप सब पहचानते हैं, भले ही यह नहीं समझ सकें कि साधारण कहानी और कलापूर्ण कहानी में क्या भेद है। प्रेमचंद कहते हैं—"आख्यायिका केवल घटना है।" मोटे रूप से यह बात ठीक है, परन्तु कितनी ही कहानियाँ ऐसी हैं जो पात्र या परिस्थिति का विश्लेषण करके या चित्र देकर ही रह जाती हैं। इनमें घटना का अभाव है। फिर भी ये कहानियाँ हैं। प्रेमचंद इस बात को जानते थे, इसीलिए उन्होंने कहा है—"वर्तमान आख्यायिका (या उपन्यास) का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएँ और पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के निमित्त ही लाये जाते हैं। उनका स्थान बिल्कुल गौण है। उदाहरणतः, मेरी 'सुजान भगत', 'मुक्तिमार्ग', 'पंच परमेश्वर', 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'महातीर्थ' नामक सभी कहानियों में एक न एक मनोवैज्ञानिक रहस्य को खोलने की चेष्टा की गई है।" इन दो कथनों को मिलाना हो तो यों कह सकते हैं—कहानी एक घटना, मनःस्थिति या बाह्य परिस्थिति है जिसमें मनोवैज्ञानिक सत्य या मनोवैज्ञानिक रहस्य का उद्घाटन संभव हो! फिर भी हम कहानी को बाँध नहीं पाते। ऐसी सैकड़ों मनोरंजक कहानियाँ हैं जिनमें किसी विशेष मनोवैज्ञानिक सत्य या मनोविज्ञान का उद्घाटन

नहीं हुआ है। कितनी ही कहानियों का लक्ष्य धर्म, नीति या व्यवहार-लाभ होता है, कितनी ही कहानियों का कोई लक्ष्य नहीं होता। फिर भी वे कहानियाँ ही हैं, इसमें संदेह नहीं। आज यदि यह आग्रह है कि कहानी का मनोविज्ञान से कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य हो तो कल यह आग्रह था कि उसका धर्म या नीति से कोई-न-कोई संबंध हो ही। वास्तव में, कहानी के उद्देश्य, विषय या "टेकनीक" को लेकर उसकी परिभाषा नहीं बन सकती। कहानी का क्षेत्र इतना विस्तृत है—विषय और शैली दोनों की दृष्टि से—कि हम किन्हीं दो-चार वाक्यों को कहानी की परिभाषा के रूप में नहीं गढ़ सकते।

कहानी-साहित्य की दृष्टि से ऋग्वेद की अपाला की कथा, ब्राह्मणों की वामदेव और रोहित की कथाएँ और उपनिषदों के जाबालि और नचिकेता के उपाख्यान अत्यंत प्राचीन हैं। पिछले काल के दार्शनिकों ने भी न्याय और दर्शन के सिद्धांतों को ग्राह्य बनाने के लिए इस प्रकार की आख्यायिकाओं का प्रयोग किया है। कहानी की इस गंभीर विषयों को समझाने की उपयोगिता का बराबर प्रयोग होता रहा है। इसका एक स्पष्ट फल यह हुआ है कि पशु-पक्षी, चेतन-अचेतन, भूत-प्रेत और मानव-अमानव सभी कहानी के पात्र बनने लगे। इन पात्रों की स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता तब कथाकार के चिंतन का विषय नहीं थी। कालांतर में जातक कथाएँ लिखी गईं। बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा ये कथाएँ संसार के समीपवर्ती और दूरवर्ती भागों में पहुँचीं। इन जातक-कथाओं का प्रचार और प्रभाव अत्यन्त व्यापक था। मध्य एशिया, योरोप, अरब, मिश्र आदि भूखंडों में इन कथाओं ने पहली बार कहानी नाम की वस्तु को जन्म दिया। यूनान में इन्हीं जातक कथाओं का रूपांतर

किया हुआ संग्रह ३०० ई० पू० के समीप डेमीट्रोमिस कोलिरीयस ने किया। यही संग्रह बाद को 'ईसप की कहानियाँ' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन ईसप की कहानियों का जो जातक-कथाओं का रूपांतर मात्र हैं, योरोप के साहित्य पर किसी न किसी रूप में सत्रहवीं शताब्दी तक प्रभाव रहा। बुद्ध की जातक कथाएँ पाली और प्राकृत में थीं, परंतु बाद को ब्राह्मणों ने प्रचार का अच्छा साधन देख कर इन्हें स्वतंत्र रूप से अपना लिया। पंचतंत्र, हितोपदेश आदि ग्रंथों में इस प्रकार की कथाएँ हैं। संस्कृत भाषा में ही नहीं, अपभ्रंश और पैशाचिक भाषाओं में भी इन जातक-कथाओं के आधार पर कथा-साहित्य की सृष्टि हुई। गुणाढ्य की "बृहत् कथा" कदाचित् पैशाची भाषा में ही थी। यह संभवत: ६०० ई० पूर्व में लिखी गई होगी। अब यह ग्रंथ लुप्त हो चुका है परंतु इसकी अनेक कथाएँ "बृहत् कथा मंजरी" और "कथासरित्सागर" के रूप में अ ब भी संस्कृत में उपलब्ध हैं। कथासरित्सागर के आधार पर ही प्रसिद्ध "अलिफलैला" की रचना हुई। उपदेश के उद्देश्य से आरंभ होकर कथा बराबर मनोरंजन की ओर बढ़ती गई। यह तो अवश्य है कि समाज के धर्म-प्रधान होने के कारण प्राचीन कहानियों का प्रधान उद्देश्य धार्मिक अथवा नैतिक शिक्षा रहा है, परंतु 'दशकुमारचरित्र' के समय तक लौकिकता और सांसारिकता की शिक्षा की ओर कहानी का झुकाव स्पष्ट दिखाई देता है।

परंतु हमारी वर्तमान कहानी पश्चिम की उपज है और उसे जन्म लिए १२५-१५० वर्ष से अधिक समय नहीं हुआ है। वह १९वीं शताब्दी से पहले इस रूप में हमारे सामने नहीं थीं। इसीलिए जनता रोमांस, उपन्यास, नाटक, Tale (कथा), जैसी चीज़ों से मनोरंजन करती थी।

ये सब चीजें ऐसी थीं जिनमें कहानी के तत्त्व वर्तमान थे। वर्तमानकहानी ने धरोहर के रूप में इनसे बहुत कुछ प्राप्त किया है। नाटक से कथोपकथन और नाटकीयता, उपन्यास से चरित्र-चित्रण, काव्य से प्रकृति-चित्रण और रसात्मकता। आज यदि आप कहानियों का कोई संग्रह देखें तो उसमें देवकथात्मक कहानियाँ और रूपकात्मक कहानियाँ भी मिल जाती हैं और ऐसी कहानियाँ भी मिल सकती हैं जिनका उद्देश्य और ढंग जातक-कथाओं का होगा। इस प्रकार आज की कहानी का क्षेत्र साहित्य के किसी भी अंग—नाटक, उपन्यास, कविता—से अधिक विस्तीर्ण है। उसने पूर्ववर्ती सभी साहित्यिक उपादानों से सहारा लिया है परंतु आज उसका रूप, सौष्ठव, शैली सब उसकी निजी सम्पत्ति हैं।

अच्छी कहानी के लिए समय की एकता, समय और स्थान की एकता और चरित्र-चित्रण की एकता अधिक से अधिक होना आवश्यक है। इन सबका संबंध मूलतः बीजवस्तु और कथानक से है। प्रभाव की एकता के लिए यह आवश्यकहै कि कहानी किसी एक विशेष दृष्टिकोण, परिस्थिति या उद्देश्य कोलेकर समाप्त हो चले और उसीविशेष दृष्टिकोण,परिस्थिति याउद्देश्य कोलेकर जाय। अतः कहानी की बीजवस्तु एक ही हो, और वह बीजवस्तु स्पष्ट हो। कहानीकार क्या चाहता है, कहानी क्या बने, इस संबंध में उसे अपने मन में स्पष्ट होना चाहिये। जब वह कहानी लिख रहा हो तो उस मूल उद्देश्य (बीजवस्तु) पर उसकी दृष्टि रहना चाहिए जिससे वह इधरउधर बहक न जाये। कथानक में बीजवस्तु अथवा कथाकार के उद्देश्य का विस्तार होता है, अतः कहानी में कथानक का सौष्ठव भी आवश्यक है। कथानक जितना हो, स्पष्ट हो, केन्द्रवर्ती हो। यह आवश्यक नहीं है कि कथा का विभाजन सदैव ही आरंभ, आदि और अंत में हो सके, परंतु यह अवश्य आवश्यक है

कि कथा संगठित हो। कहानी में कई घटनाओं का समावेश हो तो उनके भीतर किसी एक अटूट सूत्र का होना आवश्यक है। यह उचित नहीं है कि कथाकार किसी अनर्थक घटना या किसी अनावश्यक पात्र को कहानी में स्थान दे या एक-दो पद अनर्गल प्रलाप भर दे। कहानी में उच्छृंखलता को थोड़ा भी प्रश्रय नहीं मिलना चाहिए। कथावस्तु स्वाभाविक, मनोरंजक और सरल हो। वह प्रवाहयुक्त हो। हो सके तो वह सांकेतिक हो। कहानी पढ़कर पाठक को मनोरंजन से कुछ अधिक मिल जाय। रूपकात्मक कहानी की तो यही विशेषता है कि वह इस प्रकार वस्तु से बाहर संकेत करती है, परंतु अन्य कहानियों में भी बहुत कुछ पाठक के मन और कल्पना के लिए छोड़ा जा सकता है। कहानी इतिवृत्तात्मक कथामूलक निबंध नहीं है। वह कला है। कला का सर्वोच्च रूप वह है जहाँ वह प्रतिपादित वस्तु से आगे बढ़कर अप्रतिपादित वस्तु या लक्ष्य की ओर संकेत करती है।

कथानक के बाद मनोविज्ञान आता है और मनोविज्ञान के सहारे पात्र अवतीर्ण होते हैं। मूलतः चरित्र-चित्रण उपन्यास का विषय है, कहानी का विषय नहीं है। परंतु जहाँ कथानक केवल कथानक के लिए नहीं है वहाँ पात्र का चरित्र थोड़ाबहुत विकसित ही होगा। पात्र-प्रधान कहानियों में पात्र का विश्लेषण या विकास ही कहानीकार का ध्येय होता है। परन्तु अन्य प्रकार की कहानियों में भी जब तक वे एकदम 'टाइप' को चित्रित नहीं करती हैं, शतप्रतिशत रूपकात्मक नहीं हैं। कहानी चरित्र के विश्लेषण, विकास, नहीं तो 'निर्माण' में दत्तचित्त होती है। परन्तु मनोवैज्ञानिक कहानियों और पात्र-प्रधान कहानियों में अंतर है। इसे समझ लेना चाहिये। मनोवैज्ञानिक कहानियों में मूल समस्या मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का प्रस्फुटन है, पात्र-प्रधान कहानियों में विशेष पात्र के

व्यक्तित्व का निर्माण एवं विकास ही मंतव्य है। यद्यपि दोनों चीज़ों का निकट का संबंध है, परन्तु जहाँ बीजवस्तु मनोविज्ञान से संबंध नहीं रखती, वहाँ भी चरित्र-चित्रण महत्वपूर्ण होता है, मनोविज्ञान उसे पुष्ट कर सकता है। पात्र-प्रधान या चरित्र-चित्रण-प्रधान कहानियों को छोड़ कर शेष कहानियों में पात्रों का स्थान गौण है।

कथानक और पात्रों के बाद शैली का नाम आता है। वस्तु-वर्णन कथोपकथन, दृश्य-चित्रण, संबोधन अनेक शैलियों द्वारा कहानी की कथा-वस्तु चलाई जाती है। कोई-कोई कहानी (जैसे कौशिक की कुछ कहानियाँ) केवल कथोपकथन के आधार पर चलती हैं। इस प्रकार की कहानी कथोपकथन-प्रधान कही जाती है, परन्तु नामों से कुछ आता-जाता नहीं। अधिकांश कहानियों में वस्तु-वर्णन और कथोपकथन का इस प्रकार संतुलित प्रयोग होता है कि कहानी में दोनों का यथा-आवश्यकता प्रयोग होता है। वस्तु-वर्णन भी कई प्रकार का हो सकता है—आत्मकथात्मक (मैं शैली), परकथात्मक (वह-शैली), संबोधनात्मक (तुम-शैली)। उसका रूप साधारण इतिवृत्तात्मक हो सकता है, या मनोवैज्ञानिक या कलात्मक। प्रायः इनमें से कोई अकेला नहीं चलता। कहानीकार कहानी को कह डालता है, या पात्र कह सकता है, या कहानी समाचारपत्रों, डायरी के पन्नों अथवा इसी प्रकार की चीजों के सहारे गढ़ी जा सकती हैं। कहने वाला प्रधान पात्र हो सकता है या गौण पात्र। कभी-कभी कई-कई पात्र बारी-बारी से कहानी कह सकते हैं। संक्षेप में, जितने कलाकार हैं, कहानी लिखने की उतनी ही शैलियाँ हैं।

कहानी और जीवन

कुछ लोग कहानी को वास्तविक जीवन से बिलकुल भिन्न और कुछ

उसका विरोधी भी समझते हैं। वे कहते हैं जीवन सत्य है, कहानी झूठी है। संसार के साहित्य में एक समय जो कहानियाँ लिखी जाती थीं उनमें सत्य की अपेक्षा झूठ की ही अधिक मात्रा थी। पाठक वास्तविक जीवन की कटुता से बचने के लिए उसे पढ़ता था। उसके जीवन में जो असंभव था, उसे वह कहानी में संभव बना लेना चाहता था। इस प्रकार की कहानियों का चलन शताब्दियों तक रहा। उन्नीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हुआ और इस प्रकार की सामाजिक क्रांतियाँ हुईं जिन्होंने जनविशेष की अपेक्षा जन-साधारण का महत्व अधिक बढ़ाया। फल यह हुआ कि पिछली सब कहानियों को मनुष्य ने वास्तविकता से दूर पाया। इसलिए वह कहने लगा—कहानी असत्य है, जीवन सत्य है।

परन्तु बात ऐसी नहीं है। अन्य कलाओं की तरह कहानी भी एक कला है और अन्य कलाओं का जीवन से जो संबंध है वही संबंध कहानी का भी है। जो आलोचक कहानी में जीवन का जैसा-का-तैसा रूप चाहते हैं उनके लिए यही कह देना उचित होगा कि कहानी जीवन का फोटू नहीं लेती, वह एक कुशल चित्रकार की तरह चित्र बनाती है। किसी चीज के वास्तविक रूप और उसके फोटू में बहुत अंतर नहीं होता, परन्तु किसी भी चीज़ और कुशल चित्रकार द्वारा बनाए हुए उसके चित्र में बहुत अंतर रहता है। फोटू निःसन्देह जीवन है, न कम, न अधिक। इसके विपरीत चित्र जीवन है, परन्तु कुछ कम, कुछ अधिक। फोटू जीवन की वास्तविकता के ऊपर आश्रित है परन्तु चित्र जीवन की वास्तविकता को छूता हुआ भी उससे ऊपर है। चित्रकार के मन पर वास्तविक जीवन का जो प्रतिबिंब पड़ता है, वह उसके दृष्टिकोण द्वारा कुछ यहाँ, कुछ वहाँ बदल जाता है। चित्रकार जो हमारे सामने रखता है वह वास्तविक जीवन नहीं

होता। वह वास्तविक जीवन से कुछ अधिक भिन्न भी नहीं होता परन्तु उसकी विशेषता यह होती है कि वह जीवन के साथ-साथ देखने वाले के दृष्टिकोण को भी हमारे सामने रखता है। जो परिस्थिति चित्र की है, वही परिस्थिति कहानी की भी है। इसीलिये चित्र में चित्रकार के व्यक्तित्व का जो स्थान होता है, वही कहानी में कहानीकार के व्यक्तित्व का। कहानी और चित्रकार दोनों ही जीवन को कैमरे की ताल के सामने नहीं रख देते। उनका व्यक्तित्व उनकी रचना और जीवन के बीच में आ जाता है। जीवन का जो भाग उनके व्यक्तित्व में छन कर जिस प्रकार उनके सामने आता है उस प्रकार वे उसका चित्रण करते हैं।

इसी से यथार्थवादियों की माँग हमें खटकती है। यथार्थवादी कहते हैं—"हमें जीवन दो। तुम जो लिखो उसमें सच्ची घटनाओं का प्रतिबिंब हो। अपनी तरफ़ से न कुछ घटाओ, न कुछ बढ़ाओ। एक बात करो। कहानी में असंभव बात कोई न हो। साधारण जीवन की साधारण बातें उसमें हों। उसमें रोमांस न हो। बेकार और बेमतलब चीज़ उसमें न भरो और न कल्पना से ही उसे भरो। यदि तुम कोई कपोलकल्पित घटना नहीं लिख रहे हो तो तुम्हारे हाथ-पैर जीवन से बँधे हुए हैं।" सच तो यह है कि यथार्थवादी जीवन के सत्य पर प्रत्येक वस्तु का बलिदान करना चाहते हैं। उनके लिए कहानी वास्तविकता और वास्तविकता कहानी है। दोनों में कोई अंतर नहीं।

ऊपर हमने एक दृष्टिकोण दिया है। दूसरा दृष्टिकोण उन लोगों का है जो कहानी का अंश समझते हैं। वे कहते हैं—"यह जो तुम जीवन में अपने चारों ओर देखते हो, यही क्या अनुभव है? क्या जीवन का सत्य मनुष्य के सत्य से बड़ा है? क्या मन स्वयम् निर्माण

नहीं करता ? और क्या वह जो निर्माण करता है, वह सत्य नहीं है ?" इस श्रेणी के आलोचकों की दृष्टि में सत्य को उसी रूप में उपस्थित करने की कोई भी कला नहीं है। उनके निकट उनके अपने दृष्टिकोण का मूल्य अधिक नहीं है। उनका तर्क कहता है कि जीवन के सत्य के ऊपर एक दूसरा सत्य है। कहानीकार का संबंध इसी सत्य से है। इसे वे 'कवि का सत्य' कहते हैं।

सच तो यह है कि हमें इन दोनों दृष्टिकोणों में मेल बिठाना है। अनुभव को परिभाषा में जकड़ा नहीं जा सकता और उसकी सीमाएँ भी नहीं बनाई जा सकतीं। हम जो अपनी वहिर्न्द्रियों से ग्रहण करते हैं वही सब अनुभव नहीं है। वह तो अनुभव का एक अंश है। साहित्य में जिस अनुभव का हम प्रयोग करते हैं उसकी सीमाएँ कहीं अधिक बड़ी हैं। हमारा मन बाहर के अनुभवों से ग्रहण किये हुए सत्य पर चिन्तन करता है और अन्य अनुभवों से उन्हें रंग कर उसे एक नया रूप दे देता है। हमारी इन्द्रियों ने जो अनुभव किया था उससे मन का अनुभव भिन्न हो सकता है। परंतु इसीलिए वह असत्य नहीं हो जाता।

अपनी इंद्रियों के द्वारा हम बाहर की वस्तुओं से पहचान करते हैं। यह अनुभव की पहली सीढ़ी है। हम नीले आकाश में काले-काले बादलों को उमड़ते देखते हैं। अपने इस अनुभव को हम सत्य मानते हैं। परन्तु यदि हम एक कविता में यह अनुभव ज्यों का त्यों रख दें तो उससे दूसरे व्यक्ति (पाठक) में हम अनुभूति किस तरह जगा सकेंगे ? हमने बादल को अपनी आँखों से देखा और उन्हें अपने मन में स्थान दिया। हमारे मन में इस अनुभव को अपने लिए सत्य बनाने की चेष्टा

की। उसने पहले के अनेक अनुभवों से उसका मेल बैठाया। सच तो यह है उसने अपने लिए सत्य की एक नई भूमि तैयार की। हमारे मन ने बादलों में एक नए सत्य को स्थापित किया। उसने कहा—"आकाश के नीले जल में एक तरुणी नहाने उतरी है और उसके केशपाश जल के तल पर बिखर गये हैं।" अब उसके लिए बादलों का यह रूप भी उतना ही सत्य है जितना पहला रूप। मन सतत प्रगतिशील है। वह अनेक वस्तुओं को अनेक प्रकार से ढालता है और सच्चे अनुभवों की नीवों पर अनेक बालू के महल उठाता है। पूर्व अनुभवों के अनेक तत्वों से इन महलों का निर्माण होता है। इस प्रकार कवि-सत्य का जन्म होता है।

मन का विषय कल्पना है। सत्य और कल्पना का आधार लेकर मायावी मन अनेक खेल खेलता है जो उसके लिए सत्य हैं। मनुष्य का मन जहाँ कहीं है वहाँ वह उसके लिए सत्य है क्योंकि सभी मन एक ही तत्त्व के बने हैं। हम कैसे कह दें कि बाहर जो है सत्य है, और अन्दर जो है झूठा है, बाहर का अनुभव जिस प्रकार से सत्य है उस प्रकार भीतर का अनुभव भी सत्य होगा। जब तक मन की बात एकदम असम्भव न हो, तब तक हम इसे संभव मान ले सकते हैं।

ऊपर के तर्क से हमने यह सिद्ध किया कि तब तक हम किसी कहानी को झूठा नहीं कह सकते जब तक वह हमारे आदर्श जगत् में संभाव्य नहीं होती। यदि कहानी किसी भी परिस्थिति में किसी तरह संभव हो सकती है तो वह हमारे लिए सत्य है। इस तर्क के बल पर ऐसे आलोचक जो कला को महत्त्व देते हैं आदर्श और रोमांस को भी उतना ही सत्य समझते हैं जितना यथार्थ जीवन को। कहानी की दुनिया में यथार्थ,

आदर्श और रोमांस की सीमाएँ मिल जाती हैं और हम इन तीनों को एक दूसरे से अलग नहीं कर सकते। यथार्थ और कला का रूप देने में हमें आदर्श की सहायता की जरूरत होती है और रोमांस अतिशयोक्ति न हो जाय, इस भय से उसमें यथार्थ का पुट देना होता है। सच तो यह है कि हमें कहानी की कला और कवि सत्य पर अधिक ध्यान देना होता है। इसलिए हम यथार्थ और रोमांस को इन दोनों से अलग नहीं कर सकते। इन दोनों तत्त्वों की सहायता से हम यथार्थ को मनोरंजक बना सकते हैं। इसके लिए हमें कल्पना का थोड़ा आश्रय लेना पड़ता है। इसके सिवा हम प्रत्येक अतिप्राकृतिक और अलौकिक घटना को यथार्थ घटना के समीप ला सकते हैं यदि हम उस घटना के साथ ऐसी घटना भी जोड़ दें जो मानव-मनोविज्ञान पर आश्रित है।

अंत में हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि कहानी में यथार्थ और अनुभव को विस्तृत अर्थों में लेना चाहिये। यथार्थवादी इन दोनों शब्दों के बहुत संकीर्ण अर्थ लेते हैं। वे कहानी में वैज्ञानिक की नपी-तुली सच्चाई चाहते हैं, परन्तु उनको यह याद रखना चाहिये कि कहानी को कलात्मक और प्रभावशाली बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसे साधारण जीवन से ऊपर उठाया जाय।

साहित्य में सब से महत्त्वपूर्ण वस्तु कल्पना है। मनुष्य जहाँ प्रत्येक वस्तु को विस्तार में जानना चाहता है वहाँ वह यह भी चाहता है कि इस प्रकार का ज्ञान उसे सरलता से मिल जाय। वह फूल की पंखुड़ी को नोचकर उसके प्रत्येक भाग से परिचित होने की चेष्टा करता है परन्तु साथ ही वह यह भी चाहेगा कि उसका मन फूल की पूर्णता को भी ग्रहण कर सके। कहानी मन की अपेक्षा हृदय को अधिक स्पष्ट करती है। अतः

उसमें चुनाव की बड़ी आवश्यकता है। अधिक चुनाव से मन संतुष्ट हो जाता है, हृदय ऊब जाता है। वह प्रत्येक वस्तु जो हमारे मनोभाव और हमारी मनोभावनाओं पर प्रभाव डालती है, और उनमें रसात्मक भ्रांति उत्पन्न करती है, वह प्रत्येक वस्तु जो थोड़ी देर के लिए पृथ्वी के समतल से ऊपर उठाकर एक दूसरी अधिक सुन्दर और कम परिचित पृथ्वी स्थापित करती है—वह प्रत्येक वस्तु हृदय को ग्राह्य है। इसलिए कहानीकार वस्तुओं के विस्तार में न जाकर उनकी कुछ विशेषताएँ चुन लेता है और उन थोड़ी विशेषताओं को कहानी में इस तरह जोड़ता है कि इस थोड़े वर्णन के द्वारा ही पूरी वस्तु की व्यंजना हो जाती है। पाठक जब थोड़े से वर्णन में पूरी वस्तु से परिचित हो जाता है तो वह यह क्यों चाहेगा कि वह उसके विस्तार में जाय? यथार्थवादी और आदर्शवादी कलाकार के दृष्टिकोण में केवल यह अंतर है कि जहाँ यथार्थवादी प्रत्येक वस्तु को विस्तार में देखता रहता है और सब कुछ बता देना चाहता है, वहाँ आदर्शवादी कलाकार हमारे सामने वस्तु की विशेषताएँ रखता है, इस तरह कि जिन चीज़ों को उसने स्थापित नहीं किया है, मन उनकी स्वयम् कल्पना कर लेता है। आदर्शवादी कलाकार अपनी चुनी हुई चीज़ों का यों ही वर्णन नहीं कर देता। वह उसमें अपने मनोभावों की व्यंजना भी रखता है और वह उन चीज़ों को अपनी आत्मा के रस में लपेट कर पाठक के सामने रखता है। वह यथार्थवादी की तरह शुष्क दार्शनिक नहीं है, भाव-प्रधान कवि है।

संक्षेप में, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कहानी में यथार्थ जीवन का चित्रण आवश्यक है। न होने से कहानी कपोल कल्पना-मात्र रह जायगी। हम किसी भी ऐसी वस्तु को स्वीकार नहीं कर सकते जिसके लिए

हमारा अनुभव हमें तैयार नहीं कर देता या जो हमारे मनोविज्ञान से मेल नहीं खातीं। परन्तु इसके साथ ही कला का मुख भी देख कर चलना पड़ता है। हम जीवन का सत्य तो अवश्य उपस्थित करें परन्तु वह सत्य वैज्ञानिक सत्य पर आश्रित न होकर कला के सत्य पर आश्रित हो। कहानी का जो उद्देश्य रहे वह कला-पूर्ण ढंग से स्थापित किया जा सके। पाठक उसे कहानी के भीतर से पाये। कहानीकार कोई पुरोहित नहीं है जो शिक्षा देता फिरे। हो सकता है कि कहानी की नींव किसी ऊँची नैतिक शिक्षा पर रखी गई हो; हो सकता है कि कहानीकार ने कोई नैतिक दृष्टिकोण उपस्थित किया हो। परन्तु उस नैतिक शिक्षा अथवा नैतिक दृष्टिकोण को शुष्क वर्णनात्मक ढंग पर उपस्थित करना भूल होगी। कला का काम पाठक की संवेदना उभारना और उसे सत्य में सौन्दर्य का दर्शन कराना है। कहानी यह काम करे तब वह सफल कहानी है।

७

एकांकी

अन्य अर्वाचीन साहित्य-कोटियों की तरह एकांकी भी आधुनिक वस्तु है। बीसवीं शताब्दी के द्रुतगामी जीवन और सामयिक घटनाओं की आलोचना की आवश्यकता ने ही एकांकी को जन्म दिया है। यह बात नहीं कि प्राचीनों ने एक अंक के नाटक की योजना ही नहीं की हो। हमारे आचार्यों ने रूपक के जो दस भेद किये हैं उसमें भाण, व्यायोग, अंक, वीथी और प्रहसन पाँच प्रकार के एकांकी हैं। परन्तु आधुनिक एकांकी उनसे भिन्न वस्तु है और उसका क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। उसका जन्म योरोप में हुआ और जन-थियेटरों और स्कूल-कालिज के रंगमंचों में ही इसका विशेष विकास हुआ। आज एकांकी लिखना कला की हीनता का सूचक नहीं समझा जाता और संसार के सभी श्रेष्ठ कथाकार और नाटककार एकांकी की रचना में योग दे रहे हैं। वास्तव में नाटक (रंगमंच) का बहुत कुछ क्षेत्र सिनेमा ने अपना लिया है। दो-ढाई घंटे के थोड़े समय में ही जीवन के गंभीर और मनोरंजक चित्र आज बोलपट पर दिखलाए जा सकते हैं। रंगमंच पर उसी तरह की योजना करने में कहीं-अधिक व्यय होगा और उतना आकर्षक भी न होगा। परन्तु केवल रंगमंच की नई आवश्यकता के कारण ही एकांकी की सृष्टि नहीं हुई है। वास्तव में आज का जीवन बहुत उलझा हुआ है। समाज और व्यक्तित्व की अनेक छोटी-बड़ी उलझनें संपूर्ण नाटक का विषय नहीं होतीं। जिस प्रकार छोटी-छोटी

कहानियों, रेखाचित्रों और रिपोर्टाजों में समसामयिक जीवन की विभिन्नता, संघर्ष-प्राणता और प्रगतिशीलता की अभिव्यक्ति संभव है, उसी प्रकार रंगमंच पर उस प्रकार के जीवन की अभिव्यक्ति एकांकी द्वारा ही हो सकती है। सच तो यह है कि आधुनिक एकांकी ने रंगमंच के लिए कहानी के क्षेत्र को भी सुलभ कर दिया है। आज की साहित्यकोटियों में एकांकी और कहानी परस्पर इतने निकट हैं कि दोनों में अनेक बातों का साम्य है और अनेक उत्कृष्ट कहानियों को सरलता-पूर्वक एकांकी का रूप मिल गया है।

नाटक के सभी तत्त्व एकांकी में होते हैं—बीज, कथावस्तु, चरित्र-चित्रण (पात्र), कथोपकथन और दृश्यपरिवर्तन। पहले एकांकी का अर्थ छोटा नाटक ही समझा जाता था और एक ही अंक में अनेक दृश्यों की योजना होती थी, परंतु धीरे-धीरे यह समझ लिया गया कि जिस प्रकार छोटा उपन्यास कहानी नहीं है, उसी प्रकार नाटक की कथावस्तु को एक अंक में सीमित कर देने से कोई भी उत्कृष्ट एकांकी की रचना नहीं कर सकता। धीरे-धीरे एकांकी की कला का स्वतंत्र रूप से विकास होने लगा और अब एक दृश्य के एकांकी ही अधिक लोकप्रिय हैं। इससे नौसिखिये (Amateur) खिलाड़ियों को सुविधा भी होती है। एक ही पट के सामने जीवन के किसी भी एक मार्मिक चित्र की सुन्दर अभिव्यक्ति और वह भी आध-घंटे, पौन घंटे में—यही एकांकी की लोकप्रियता का कारण है। परंतु यह सीमा ही एकांकीकार के हाथ-पैर बाँध देती है और उसे कथा, चरित्र और कथोपकथन की अत्यंत कलात्मक योजना करनी पड़ती है।

एकांकी का बीज अत्यन्त ही स्पष्ट होना चाहिये। आध-घंटे, पौन घंटे के खेल में जब तक तीर के नोक की सी तीव्रता और तीक्ष्णता न हो, तब तक पाठक उसके विषय में आश्वस्त नहीं हो सकता। जीवन के किसी भी वैषम्य, व्यक्ति के किसी भी मनोवैज्ञानिक संघर्ष, समाज की किसी भी रूढ़ि को एकांकी का विषय बनाया जा सकता है। शर्त यह है कि विषय (बीज) स्पष्ट हो और सारी कथा बड़ी तीव्रता से उसी की ओर बढ़े। यह बीज जितना भी स्पष्ट, जितना भी अधिक मार्मिक होगा, उतना ही प्रेक्षक अधिक प्रभावित होगा। यह बीजवस्तु ही नाटक का प्राण है। केवल कथा-मात्र के आधार पर एकांकी को मार्मिक और प्रभावशाली नहीं बनाया जा सकता।

१ बीज

कहानी सम्पूर्ण जीवन या उसके किसी अंश का चित्र उपस्थित कर सकती है, परंतु एकांकी में सम्पूर्ण जीवन को चित्रित करने का कोई प्रयत्न नहीं होना चाहिये। जीवन का एक अत्यन्त मार्मिक अंश ही एकांकी में ग्रहण किया जायगा और गौण वस्तुओं को हटा कर उसे अधिक संवेदनाशील बना दिया जायगा। नाटक में आधिकारिक और प्रासंगिक कथावस्तुएँ साथ-साथ चल सकती हैं, परंतु एकांकी में प्रासंगिक वस्तुओं को लाना संभव नहीं है। इससे कथावस्तु और प्रभाव की एकसूत्रता में आघात पहुँचता है। वास्तव में एकांकी की कथावस्तु बहुत थोड़ी होती है, परंतु कथोपकथन और चरित्रों के संघर्ष के द्वारा उसकी मार्मिकता में स्वतः वृद्धि हो जाती है। इस कथावस्तु में जीवन के एक बहुत छोटे चमत्कारिक अंश को ही ग्रहण किया जाता है—जो अन्य बातें कथा या पात्रों से

२ कथावस्तु

संबंधित होने के कारण प्रेक्षक के लिए जानना आवश्यक होती हैं, वे बातें कथोपकथन में संकेत-पूर्वक बता दी जाती हैं।

कहानी की तरह एकांकी में भी चरित्र के क्रम-विकास के लिए स्थान नहीं होता। २०-२५ पृष्ठों में या रंगमंच पर आध घंटे-पौन घंटे में चरित्र का विकास दिखाना संभव ही नहीं है। परंतु यदि चरित्र गतिहीन (Static) और 'टाइप' हों तो एकांकी मार्मिक नहीं होगा। इसीलिए एकांकी में चरित्र-चित्रण की कला अत्यन्त विकसित होना आवश्यक है। इस कठिनाई को इस तरह से दूर किया जाता है कि एकांकी की कथा ऐसे समय उपस्थित की जाती है जब उसके पात्र किसी गहरे द्वन्द के बीच में से होकर गुज़र रहे हों। तब वे अत्यंत संवेदनशील रहते हैं और उनके चरित्र की रूपरेखाएँ बड़ी सरलता से उभर आती हैं। भावों और संघातों के घातप्रतिघातों की चरम सीमा (Crisis) के समय पात्रों में जो उथल-पुथल होती है, उसी का मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित करना एकांकी की कला की पराकाष्ठा है। समय और कथावस्तु के अत्यंत सीमित होने के कारण एकांकी के पात्रों की संख्या भी बहुत सीमित रहती है। ८-१० पात्रों से अधिक पात्र एकांकी के नाटक-तत्व को नष्ट कर देंगे। इसलिए एकांकी में कम से कम पात्रों का आयोजन रहता है।

३ चरित्र-चित्रण (पात्र)

परन्तु इतना होने पर भी यह संभव नहीं है कि प्रेक्षक या पाठक पात्र और उसके चरित्र के संबंध में सब कुछ जान ले। इसीलिए अनेक निर्देशों और वातावरण इत्यादि के निरूपण की आवश्यकता होती है। आधुनिक नाटकों के ढंग पर एकांकीकार भी अत्यन्त विस्तार-पूर्वक

भूमिकाएँ लिखते हैं जिनमें स्थान, समय, पात्रों और उनकी सामाजिक स्थिति एवं मनोस्थिति के सम्बन्ध में पूरा-पूरा उल्लेख रहता है। पाठक के लिए ये निर्देश और भूमिकायें वही काम करती हैं जो उपन्यासों के बड़े-बड़े विवरण। प्रेक्षक इनसे उतना ही लाभ उठा सकता है जितने ये पटभूमि पर उपस्थित किये जा सकें। जो हो, यह निश्चित है कि पाठ्य एकांकियों में इन लंबे-लंबे विवरणों से रोचकता का समावेश हो जाता है। लेखक की अंतर्दृष्टि और उसकी औपन्यासिक पकड़ यहीं दिखलाई पड़ती है।

यों तो नाटक और उपन्यास के कथोपकथन में तत्त्वत: भेद है, परन्तु एकांकी और नाटक के कथोपकथन में भी बहुत भेद रहता है। एकांकी में अस्पष्ट, अनर्गल और असम्बद्ध वार्तालाप के लिए स्थान नहीं होता। विहारी-सतसई के दोहों के सम्बन्ध में कहा जाता है—

४ कथोपकथन

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर
दैखे में छोटे लगें घाव करें गंभीर

एकांकी के कथोपकथन में 'नावक के तीर' जैसी मार्मिकता होनी चाहिये। तभी वह निरन्तर नाटकीय बने रहेंगे और उनके आकर्षण का विरोध करना असंभव होगा। कथोपकथन की भाषा-शैली सरल और व्यंगात्मक हो, प्रतिदिन की सामान्य बोलचाल की भाषा की छाप उस पर हो और वह पात्रों के विचारों और मनोवेगों को सरलतापूर्वक वहन कर सके। एकांकी का सबसे कठिन भाग कथोपकथन की सम्पर्क योजना ही है, इसी एक बात से उसकी महत्ता स्पष्ट हो जाती है।

एकांकीकार को अपने विषय, चरित्र (पात्र) और नाटकीय परिस्थितियों के अनुकूल वातावरण का भी निर्माण करना होता है और यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह यह काम बड़ी सतर्कता से करे और जहाँ तक

५ वातावरण

हो इतनी विस्तार-पूर्वक विवेचना उपस्थित कर दे कि रङ्गमंच पर किसी तरह की उलझन न हो। यदि प्रेक्षक को अँधेरे में टटोलना पड़ा तो अनेक स्थानों में वह अपने को अक्षम पायेगा। वह सब कुछ देखता हुआ भी एकांकी का पूरा-पूरा रस नहीं ले सकेगा। इसीलिए शॉ-प्रभृति नाटककारों की यह व्यवस्था आज सब को मान्य है कि नाटककार उपन्यासकार की तरह अपनी तरफ़ से बहुत-कुछ कह डाले और प्रेक्षक को कहीं भी किसी तरह की दुविधा न हो। एकांकीकार के लिए यह बात और भी अधिक लागू है—उसे तो गागर में सागर भरना है। पात्र का एक-एक शब्द जहाँ नाटकीय विकास के लिये अमूल्य है, वहाँ वह अपनी ओर से सब कुछ स्पष्ट और प्रभावशाली बनाने के लिए कुछ भी उठा न रखेगा।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि आज का एकांकी युगों-युगों से चली आती नाटकीय परम्परा का अंतिम और कदाचित् सर्वश्रेष्ठ विकास है। उसने आधुनिक कहानी से अनेक तत्त्व उधार लिये हैं, परन्तु उसकी कला उसकी अपनी कला है जो वर्षों के प्रयोग और परिश्रम के बाद आज इतनी विकसित हो सकी है। आधुनिक युग की विशेष आवश्यकताओं और परिस्थितियों ने उसे जनता में लोकप्रिय बना दिया है। व्यंग, विनोद, कटाक्ष, चुहल, जीवन की चहल-पहल, इतिहास की एक झाँकी, व्यक्ति की कोई एक उलझन—आज यह कोई भी विषय

एकांकी के माध्यम से रङ्गमंच पर आकर हमारा मन बहला सकता है—यही नहीं, वह कला के माध्यम से उस विषय को कुछ इस तरह हमारे सामने रखेगा कि हम केवल प्रेक्षक ही नहीं बने रहें, उस वस्तु पर कुछ सोचें। सच तो यह है कि एकांकी के रङ्गमंच द्वारा आज नई सामाजिकता का जन्म हो रहा है और अब रङ्गमंच अमर समस्याओं और रोमांचक घटनाओं तक ही सीमित नहीं रह गया। एकांकी के द्वारा रङ्गमंच ने नई समाज-क्रांति के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ा है।

८

रिपोर्ताज

आधुनिक पूँजीवादी युग और विज्ञान के विद्युतवेगी विकास ने साहित्य पर भी प्रभाव डाला है और नई-नई आवश्यकताओं के कारण नये-नये संविधानों (Forms) का जन्म हुआ है। सामंतवादी युग मुख्यत: काव्य और नाटक का युग था। उस युग में गणित, विज्ञान, साहित्य शास्त्र जैसे व्यावहारिक विषय भी पद्यबद्ध लिखे जाते थे और दर्शन जैसे गंभीरतम विषय को भी उपमा-उत्प्रेक्षा और रूपक द्वारा सजाया जाता था। मनुष्य की सारी प्रवृत्तियों पर काव्य ही जैसे छा गया हो। परन्तु सामंती युग के अंत होते ही परिस्थिति बदली। पूँजीपति आये और उन्होंने बड़ी-बड़ी मिलें खड़ी कीं। विज्ञान को नये पंख मिले। नई-नई सुविधाओं के साथ नई-नई उलझनें भी पैदा हुईं और जो जीवन सामंत युग में सीधा-सादा और निर्लेप था, वही इतना संश्लिष्ट हो गया कि केवल काव्य द्वारा उसकी अभिव्यक्ति असंभव हो गई। फलत: उपन्यास का विकास हुआ। जीवन के सारे क्षेत्र को समेट कर, उसकी सारी विविधताओं और प्रवृत्तियों को लेकर चलने वाला अंग उपन्यास ही था। इसीसे पिछली उन्नीसवीं शताब्दी में उपन्यास ही सबसे लोकप्रिय साहित्य-कला रहा। उसी ने साहित्य का प्रतिनिधित्व किया। वॉलतेयर, विकतर ह्यूगो, दोस्तोवस्की, तुर्गनेव, डिकेन्स, थेकरे

और तोल्सताय उपन्यासों के कारण ही साहित्य में अग्रणी रहे। महाकवि की प्रतिष्ठा का स्थान बहुत कुछ उपन्यासकार को मिल गया।

हमारी इस बीसवीं शताब्दी में जीवन की विभिन्नता, विषमता और द्रुतगामिता और भी अधिक बढ़ी। हवाई जहाज़, रेडियो, टेलीविज़न, समाचारपत्र जैसे नये वैज्ञानिक साधन सामान्य लोगों को प्राप्त हुए। और बड़े बड़े महाकाव्यों और उपन्यासों का युग जाता रहा। किसी भी कलाकार के लिए यह असंभव हो गया कि सारे जीवन को अखंडित रूप से एक साथ देखने लगे। पाठकों के लिए इतना समय भी न रहा कि वे निश्चित रूप से पृष्ठ पर पृष्ठ पढ़ते चले जायें। फलतः जीवन की छोटी-छोटी लहरों को अनुभूति और कला के द्वारा बाँधने के लिए नयें-नये संविधानों की आवश्यकता पड़ी। सामाजिक जीवन की छोटी-मोटी भूलें, छोटे-बड़े आन्दोलन, नये-नये आलोड़न-विलोड़न बाँधना अनिवार्य हो गया। फलतः कहानी, एकांकी, रेखाचित्र (Sketch), गद्य-गीत, रिपोर्टाज, रेडियो-नाटक इत्यादि नयी-नयी साहित्य-कोटियों का आविष्कार हुआ। सामयिक जीवन में ऐसा बहुत कुछ होता है जो साहित्यकार को आकर्षित करे, परन्तु सामयिक जीवन इतनी तेज़ी से बदलता है कि लेखक उसे पढ़कर अमर साहित्य की रचना नहीं कर सकता। आये दिन जो हड़तालें, मारपीट, दंगे-फ़िसाद, वर्ग-संघर्ष, अंतर्राष्ट्रीय हलचलें और राष्ट्रीय हड़कंप समाचारपत्रों को आकर्षक बनाये रहते हैं—उन्हें क्या साहित्यकार जीवन की अपूर्ण, आंशिक और निरुद्देश्य अभिव्यक्ति समझ कर छोड़ दे। या वह उनके भीतर घुसे और सामयिक जीवन के उस सत्य को खोज निकाले जो समाज, देश और संसार को प्रगति की ओर बढ़ाता है। सामयिक

जीवन की नितांत उपेक्षा आज के किसी भी संवेदनाशील कलाकार के लिए असंभव है।

आज के जीवन की यह विषमता और द्रुतगामिता रसानुभूति के साथ सबसे सुन्दर ढंग से रेखाचित्र और रिपोर्टाज में ही प्रकाशित हुई है। अनेक कृती लेखकों ने इन संविधानों पर लेखनी चलाई है और इस युग के साहित्य के इतिहा इन नये संविधानों की एकदम उपेक्षा नहीं कर सकते। सामयिक जीवन आज पहली बार साहित्यकार की अनुभूति और प्रेरणा का विषय बना है। पिछले महायुद्ध के रूसी लेखक इलिया ऐलिन वर्ग के रिपर्टाज महाकाव्य से कम महत्वपूर्ण नहीं रहे। उन्होंने साधारण रिपोर्टाज को कला की वस्तु बना दिया और करोड़ों पाठकों को युद्ध क्षेत्र की वास्तविकता से परिचित कराया। कदाचित् जितने कम समय में ये नये साहित्यिक विधान कला की उच्चता को प्राप्त हुए उतने कम समय में कोई भी संविधान प्रौढ़ हुआ है।

रिपोर्टाज एक अत्यन्त नवीन कला है जिसका आरम्भ यूरोप में हुआ और जिसका सब से अधिक विकास रूस में हुआ। १९१८ ई० के पहले महायुद्ध के समय अनेक लेखक युद्ध-क्षेत्र में गये। वह हाथ में बन्दूक लेकर लड़ते, परन्तु अवकाश के समय युद्ध-क्षेत्र के आँखों देखे अनुभव पत्रों को भेजते। इसी से धीरे धीरे 'रिपोर्टाज' की कला का जन्म हुआ। रूस की समाजवादी क्रांति के समय यह कला विशेष रूप से विकसित हुई। इस क्रांति को चित्रित करने वाली सबसे सुन्दर पुस्तक जॉन रीड का रिपोर्टाज "टेन डेज़ दैट शुक द वर्ल्ड" ही है। पिछले २५-३० वर्षों में रिपोर्टाज की कला बहुत विकसित हुई है और संसार के सभी प्रगतिशील लेखक भिन्न-भिन्न मोर्चों पर इसका प्रयोग करते रहे हैं। आज के समाज

में परिवर्तन की गति इतनी द्रुतगामी है कि साहित्यिक को अत्यन्त तीव्रता और सतर्कता से चलना पड़ता है। वह अमर तत्त्वों की खोज में बैठा नहीं रह सकता। उसे दैनिक जीवन की विशिष्ट समस्याओं को लेकर ही आगे बढ़ना होता है। किसी घटना-विशेष या परिस्थिति-विशेष में अनेक व्यक्तियों और समाज के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा, उस प्रभाव ने उनमें क्या परिवर्तन कर दिये—यह सब रिपोर्ताज का विषय है। यदि कला और साहित्य मनुष्य के सामूहिक अनुभव की अभिव्यंजना करते हैं, तो कलाकार सामयिक जीवन की उथल-पुथल के प्रति अनासक्त नहीं रह सकता। उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप के महान कलाकारों ने पैम्फ़लेट-जैसी नकारा चीज़ को साहित्य बना दिया। फिर आज का कलाकार सामयिक जीवन की तरफ़ से आँखें क्यों मीच ले। "आज के क्रांति-युग में रिपोर्ताज ही ऐसा रूप विधान है जिसके द्वारा वर्तमान जीवन की संघर्षमयी वास्तविकता का अनुभव पाठकों तक पहुँचाया जा सकता है। रिपोर्ताज में कहानी और उपन्यास के कई गुण रहते हैं। लेकिन उसके अंदर तैयार किये गये परिवेश, चरित्र और स्थान में यथार्थता और सत्यता अधिक मात्रा में रहती है। उपन्यासों और कहानियों के अनुभवी लेखक कह सकते हैं कि उनको वे इतनी गतिशील वास्तविकता का माध्यम नहीं बना सकते। उनके अंदर तो वे उसकी तह में अधिक-से अधिक शक्तियों के विराट् संयोजन, संघटन और संघर्ष को ही चित्रित कर सकते हैं। ज्वार की ऊपरी सामयिक लहरों को अंकित नहीं कर सकते। रिपोर्ताज की विशेषता यही है कि वह उन्हें ही अंकित कर सकता है; क्योंकि वह लेखक से एक नये प्रकार के अनुभव की अपेक्षा करता है अर्थात् वह लेखक को घटना-स्थल पर मौजूद रहकर उसे जानने-समझने

को बाध्य करता है। और इस तरह लेखक का समाज के क्रांतिकारी संघर्ष से सीधा संबंध स्थापित करा देता है; और यह एक महत्वपूर्ण बात है।"
(प्रगतिवाद—शिवदानसिंह चौहान, पृ० ११६-७)

रेखाचित्र रिपोर्ताज से थोड़ा भिन्न है। दोनों के विधान एक जैसे नहीं हैं। वास्तव में रेखाचित्रकार एक तरह से चित्रकार का काम करता है—वह शब्दों के माध्यम से किसी भी वस्तु, जीवन की किसी भी जड़-चेतन वास्तविकता की रूपरेखायें उभार कर कुछ अतिरंजन के साथ हमारे भाव की सामग्री बना देता है। यह अवश्य है कि वह कोरा चित्र ही नहीं देता—उस चित्र के पीछे अप्रत्यक्ष रूप से उसकी सहानुभूति भी छिपी रहती है। परन्तु रिपोर्ताज के लेखक की तरह वह जीवन की सर्वांगीण और प्रवहमान आलोचना उपस्थित नहीं करता। सहानुभूतिपूर्ण भावाभिव्यंजक चित्र मात्र उपस्थित कर देना उसके लिए अलम् है। "रेखाचित्र साहित्य में चित्रकला के अनुरूप है। उसमें वर्ण्य-वस्तु का संगठन प्रधानतः कविता और चित्रकला की तरह देश (Space) में होता है। और जिस प्रकार चित्रकला में अनेक आधुनिक प्रवृत्तियाँ—रोमैण्टिसिज्म, प्रतीकवाद, प्रभाववाद, अभिव्यंजनावाद, रूपविधानवाद, त्रिपाशर्ववाद, परावस्तुवाद, भविष्यवाद, यथार्थवाद आदि प्रचलित हैं, उसी प्रकार लेखक की विचारधारा के अनुसार रेखाचित्र के चित्र भी प्रवृत्तियों के द्योतक हो सकते हैं। रेखाचित्र के चित्र वर्ण्य वस्तु का स्थिर चित्र भी खींच सकते हैं और गत्यात्मक भी। स्थिर चित्र में वर्ण्य-वस्तु की स्थिर रूप में यथार्थवादी अभिव्यक्ति करके भी उसके गुण-दोष, सुन्दरता-असुन्दरता, वाह्य और आन्तरिक द्वन्द और परस्पर-विरोधी प्रभावों का ज्यों-का-त्यों चित्र उपस्थित किया जा सकता है; लेकिन

गत्यात्मक चित्र खींचने के लिए उसमें नयी चेतना की अभिव्यक्ति रहेगी, वर्ण्य वस्तु को एक विशिष्ट भौतिकवादी दृष्टिकोण से आँकने का आग्रह होगा, अर्थात् नई चेतना की भाव-ग्राहकता चित्र का प्रमुख गुण होगी। तो भी हर दशा में रेखाचित्र एक चित्र है, अतः साहित्य में उसका उपयोग अनुभूति को तीव्र और प्रखर बनाना है।" (वही पृ० १०६) रिपोर्ताज की अपेक्षा रेखाचित्र में ललित साहित्य के तत्त्वों की मात्रा अधिक है। उसमें समसामयिकता के तत्त्व अपेक्षाकृत कम होते हैं और लेखक अपनी सौन्दर्यानुभूति और सहानुभूति के द्वारा उसमें अधिक स्थायित्व लाने में सफल होता है।

९

गद्यगीत

गद्यगीत भी एक अपेक्षाकृत नई साहित्य शैली है। बीसवीं शताब्दी से पहले 'गद्यगीत' नाम की कोई चीज़ संसार के साहित्य में नहीं थी; यद्यपि उपन्यासों, कहानियों और निबंधों में अनेक ऐसे उदात्त गद्यांश बराबर चलते थे जो गद्य-काव्य की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। उपनिषदों और जातक अथवा अंजील (बाइबिल) की अनेक कथाओं और अनेक प्रवचनों में कला और कल्पना की इतनी ऊँची उड़ान है कि गद्य और पद्य के बीच की शृंखलाएँ टूट जाती हैं। परन्तु आधुनिक युग का गद्यगीत काव्य की मुक्ति का अन्तिम चरण है। व्हॉल्ट विटमेन के मुक्त छंद (Verse Libera) ने जिस ओर क़दम बढ़ाया था, उसी दिशा में चलकर आज के कवि और गद्य-लेखक एक समझौते पर पहुँच गये। रवीन्द्रनाथ ठाकुर को अंग्रेज़ी कविताओं के अनुवाद ने गद्यगीत को स्थायित्व दे दिया और आज खलील जिब्रील जैसे गद्यगीतकार विश्व-विश्रुत बन चुके हैं।

छन्दों के बंधन में बँध कर कवि और कलाकार बहुत कुछ नहीं कह पाता। उसकी बहुत सी शक्ति उपयुक्त छन्दों के चुनाव और उसके कला-विधान में ही चली जाती है। इसी से वही भाव वह गद्य में कहने का प्रयत्न करता है। तब एक विशेष प्रकार के गद्य की सृष्टि होती है जिसमें काव्य के सभी गुण रहते हैं। कुछ उदाहरणों से यह बात अच्छी तरह

समझ में आ जायेगी। 'साधना' के कुछ गद्यगीत लीजिये—

१—"सन्ध्या को जब दिन भर की थकी माँदी छाया वृक्षों के नीचे विश्राम लेती है और पक्षिगण अपने चहचहे से उसकी थकावट दूर करते हैं तथा मैं भी श्रांत होकर अपना शरीर-भार पटक देता हूँ तब तुमने मधुर गान गुनगुना कर मेरा श्रम दूर करके, और मेरे बुझे हृदय को प्रफुल्लित करके मुझे मोह लिया है।

वर्षा की रात्रि में जब प्रकृति अपने को सारे संसार से छिपाकर सम्भवतः अभिसार करती है तब तुमने मृदंग के घोष में मेरी ही हृदय-गाथा सुना-सुनाकर मुझे मोह लिया है।

जब शान्तिवसना कुमुद-मालिनी प्रकृति पर चंद अमृत बरसाता है और मैं विशाल दृग्गोचर की ओर देखता अपने ज्ञात विचारों में अज्ञात हो जाता हूँ तब तुमने मुझे अपनी बंसी के तान-तरंग के पीयूष से प्लावित करके मोह लिया है।

प्रातःकाल, जब सूर्य अपने राग से कमल-वन को तथा पक्षिगण अपने राग से स्तब्ध प्रकृति को जगाते हैं तब तुमने भी अपने राग से मेरे हृत्कमल और प्रकृति को जगमगा कर मुझे मोह लिया है।" (मोहन)

२—"मेरे आँसुओ, तुम मेरे हृदय ही में बने रहो, बाहर न निकलो।

बाहर आकर आँखों में बसी उस मञ्जुल मूर्ति को धुँधली न करो। हृदय में ही रहकर उसे धोया करो।

बाहर आकर संसार की रूखी हँसी का कारण न बनो। हृदय ही में रहकर उन पवित्र स्मृतियों को सींचा करो।

तुम मेरे परमनिधि हो, भावरत्नाकर हो—तुम मेरे हृदय से विलग न हो।" (आँसू)

३—"निर्मल, नील आकाश में विमल धवल चंद स्निग्ध गति से चल रहा है।

नाले की यह विस्तीर्ण घाटी उसके मृदु प्रकाश से आलोकित हो रही है। प्रत्येक सैकत-कण में सजीवता-सी आ गई है।

दूर-दूर पर अकेले वृक्ष खड़े हैं, जिनकी छाया चंद्रमा के साथ अपनी गति बदल रही है। उन पर बैठ पपीहे कभी-कभी, उनके आत्मा की भाँति बोल उठते हैं।

गुंजार करते हुए भृंगो इधर-उधर उड़ रहे हैं और उनके पारदर्शी पंखों से छन छन कर भूमि पर पड़ने वाली चाँदनी की सुषमा का क्या कहना!

यह लो, चंद्र पीयूष-वर्षा करने लगा, और समस्त घाटी उससे भर गई।

भृंगी उसकी मंद धारा पर बैठकर कुछ दूर तक बहने का खेल करके प्रसन्न हो रहे हैं। चातक असमय ही में, अपना व्रत छोड़कर, छक रहे हैं और स्वयं चद्र इस स्वर्गीय दृश्य पर मोहित होकर, प्रतिबिंब के मिस से, उतर कर उसमें जलकेलि कर रहा है।

पर क्या यह दृश्य वाह्य प्रकृति का है?"

ऊपर ये जो तीन उद्धरण हमने दिये हैं उनसे स्पष्ट है कि गद्यगीत की अनेक शैलियाँ हो सकती हैं। उसकी विशेषता यह है कि उसमें काव्योपयोगी तत्त्वों का प्रयोग किया गया हो और विषय को कल्पना और सौन्दर्यानुभूति के माध्यम से देखा गया हो। गद्यगीतों में अनेक प्रकार की वाग्भंगिमा का समावेश हो सकता है, परन्तु यह आवश्यक है कि वह साधारण गद्य से उदात्त हों।

१०

आलोचना

साहित्य और आलोचना में अत्यंत निकट का संबंध है। अत्यन्त प्राचीन काल से हम इन दोनों को साथ-साथ चलता पाते हैं। जहाँ साहित्य है, वहाँ किसी न किसी रूप में समालोचना भी है। वास्तव में, प्रत्येक वस्तु के परखने और उसके गुण-दोष निश्चित करने की प्रवृत्ति प्रत्येक मनुष्य में होती है। ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से प्रत्येक मनुष्य को किसी भी वस्तु के लिए "अच्छी है या बुरी या इस श्रेणी की" इस प्रकार कुछ निश्चित करना होता है। आलोचना के मूल में भी यही भावना है। आलोचक साहित्य को परखता है, उसके गुण-दोष का निर्णय करता है, उसकी सामान्य विशेषताओं की रूपरेखा निर्धारित करता है।

एक वर्ग यह कहता है कि आलोचक हमें नहीं चाहिए। हम काव्य तक स्वयम् पहुँचेंगे। हमें किसी दल्लाल की आवश्यकता नहीं जो हमें उसके कुछ गुण-दोष सुझावे। उनका कहना है कि साहित्य का विषय आनन्द है। आलोचना, हृदय के ऊपर मस्तिष्क की विजय है। अतः आलोचना से काव्य या साहित्य से आनन्द-प्राप्ति में बाधा होती है। कोई काव्य कहाँ सुन्दर है, यह पाठक का हृदय स्वयम् समझ लेगा, आलोचक को समझना नहीं होगा। इसी प्रकार कलावादी कहते हैं कि कला कला है; वह निरुद्देश्य है; आलोचक उसमें उद्देश्य की स्थापना करता है, अतः अमान्य है। वह कहता है कि हम फूल की पंखुड़ियाँ

नोच-नोच कर जिस प्रकार उसके सौन्दर्य की परख नहीं करते, हमारे हाथ से आनन्द भी चला जाता है, इसी तरह साहित्य का विश्लेषण करने से उसका सौन्दर्य तिरोभूत हो जाता है और उसकी आनन्दप्रदायिनी विशेषता पर आघात होता है। फिर एक और वर्ग कहता है कि लोकरुचि से किसी भी कलावस्तु की परख नहीं होनी चाहिये। साहित्य की भी नहीं। कुछ लोग कहते हैं--"भिन्न रुचिर्हि लोकः।" जितने आलोचक, उतनी प्रकार की आलोचनाएँ। व्यर्थ की इस छीछालेदर से लाभ। सब लोगों की रुचि एक सी है, न रसास्वादन शक्ति, अतः किसी एक आलोचक कहे जाने वाले व्यक्ति की अभिरुचि को अन्य व्यक्तियों के ऊपर लादना अन्याय होगा। यह अवाञ्छनीय भी है, विशेषतः इस विचार स्वातंत्र्य के युग में।

परन्तु आलोचना फिर भी लिखी जाती है, पढ़ी जाती है, पढ़ाई जाती है। स्पष्ट है कि मनुष्य-स्वभाव ही ऐसा है कि वह सद्-असद् की विवेचना करने से चूक नहीं सकता। आनन्द कहाँ है, उसको कैसे पकड़ें, यह बात भले ही आलोचक बता नहीं सके, परन्तु वह प्रयत्न करता रहेगा और संसार उससे पूछेगा। वास्तव में, अपने क्षेत्र में आलोचना भी उतनी ही आवश्यक वस्तु है, जितना साहित्य। यदि हीरे का मूल्य है तो पारखी का भी स्थान है।

आलोचना का मूल उद्देश्य यह है कि वह काव्य के सर्वमान्य गुण ढूँढ़ निकाले और उन्हें मापदंड के रूप में पाठक को दे जिससे वह किसी भी काव्य को परख सके। नीतिवादी कहते हैं कि समालोचक का काम "सेन्सर" जैसा है। वह बताए कि कौन साहित्य सत्साहित्य है और गंदे और कुरुचिपूर्ण साहित्य की वृद्धि को रोके। मूल रूप में यह

समालोचक का काम नहीं है। कौन सत्साहित्य है, कौन कुरुचिपूर्ण असत् साहित्य है, इस पर विचार करना समाज-सेवक और सरकार का काम है जिनके हाथ में जनता की बागडोर है। समालोचक न सदासद् साहित्य की रूपरेखा निर्धारित करता है, न कुरुचिपूर्ण साहित्य का ठेकेदार है। कम से कम परोक्ष रूप में वह ऐसा नहीं करता। उसकी समस्या ही दूसरी है—कौन सुन्दर साहित्य है, कौन असुन्दर साहित्य है ? सुन्दरता कहाँ है ? साहित्य के आनन्द के मूल में क्या प्रवृत्तियाँ काम करती हैं ? साहित्य के रसास्वादन को अधिक से अधिक आनंदपूर्ण कैसे बनाया जाय ?

परन्तु आज समालोचक इन्हीं प्रश्नों पर विचार नहीं करता, लोग उससे और भी बहुत-सी चीज़ें चाहते हैं, जिससे उसने अपने क्षेत्र का विस्तार कर लिया है। वह वैज्ञानिक और नीतिवादी हो गया है, आज मूल रूप में दो प्रकार की आलोचना-शैलियाँ चल रही हैं—एक को साहित्यिक शैली और दूसरी को वैज्ञानिक शैली कहेंगे। साहित्यिक शैली के समीक्षक कहते हैं कि आलोचना भी साहित्य है। उसका काम साहित्य की सुंदर-असुंदरता की विवेचना ही नहीं है। उसका काम है कि वह भावोद्रेक और रसोद्रेक द्वारा पाठक को सुंदर काव्य या सुन्दर साहित्य की ओर अभिमुख करे। वह अपनी आलोचना का रस, अलंकार, शैली जैसी काव्योपयोगी वस्तुओं से पुष्ट करता है। वैज्ञानिक शैली के आलोचक कई वर्गों में बँटे हैं, यद्यपि उनका दृष्टिकोण एक ही है। उनके लिये साहित्य के विश्लेषण और संश्लेषण का नाम ही आलोचना है यद्यपि वे यह स्वीकार करते हैं कि उन्हें आलोच्य पुस्तक से बाहर जाकर कवि के वातावरण, उसकी सीमाओं, उसकी मनोस्थिति आदि

तक भी पहुँचना होगा। इस तरह वैज्ञानिक समालोचना के कई भेद हो जाते हैं—

(१) शुद्ध व्यक्तिगत साहित्यिक आलोचना जिसमें केवल साहित्यिक रचना को ही लिया जाता है, न कवि के जीवन और साहित्य में कोई सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, न समाज और आलोच्य साहित्य में ही। इसके दो रूप हो सकते हैं (क) व्याख्यात्मक, (ख) निर्णयात्मक। व्याख्यात्मक आलोचना निर्णय तक नहीं जाती। वह कवि का स्थान निर्धारित नहीं करती। निर्णयात्मक आलोचना व्याख्या से आगे बढ़कर कवि के काव्य के सुंदर-असुंदर स्थलों और कवि के स्थान के सम्बन्ध में व्यवस्था देती है। निर्णयात्मक आलोचना का एक रूप वह भी है जो वैज्ञानिक आलोचना और व्याख्या को छोड़ कर अनुभूति को ही आधार मान कर चलता है। इस प्रकार की आलोचना की परम्परा बड़ी पुरानी है—

उपमा कालिदासस्य भारविस्य अर्थगौरवम्।
भवभूतिः रसगंभीरं माघस्यंति त्रयोगुणम्॥
सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केसवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ-तहँ करत प्रकास॥

इस प्रकार की सूक्तियाँ निर्णयात्मक आलोचना के भीतर आ सकती हैं।

(२) ऐतिहासिक आलोचना जिसमें कवि पर तत्कालीन इतिहास, समाज और संस्कृति के वातावरण पर प्रभाव आँका जाय और साथ ही साहित्यिक परम्पराओं के बीच में उसकी स्थापना की जाय। साहित्यिक भी सामाजिक प्राणी है, अतः वह भी इन प्रभावों से अछूता नहीं रह सकता।

(३) तुलनात्मक आलोचना जिसमें पूर्ववर्ती, समकालीन और परिवर्ती साहित्यिकों के साथ कवि और उसकी सामग्री की तुलना की जाती है और इस प्रकार उसके महत्व को स्थापित किया जाता है।

(४) मनोवैज्ञानिक आलोचना जिसमें कवि के जीवन और काव्य तथा काव्यांगों में सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इस वर्ग के आलोचक काव्य को मनोस्थिति का चित्रण या अंकन मात्र मानते हैं।

(५) समाजवादी आलोचना जिसमें साहित्य को वर्ग-विशेष की उपज मानकर सामाजिक आवश्यकताओं के सहारे उसका मूल्यांकन किया जाता है। ऐतिहासिक आलोचना से यह इसलिए भिन्न है कि यह दृष्टिकोण केवल "वर्गसंघर्ष" तक ही सीमित है। अनेक ऐतिहासिक तत्त्वों में इसने इसी एक तत्त्व को चुन लिया है।

ऊपर आलोचना-संबंधी जो अनेक भेद-प्रभेद किये गये हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आजकल आलोचना का अर्थ केवल ग्रंथ के गुणदोषों का विवेचन ही नहीं रह गया है। वैसे किसी भी समालोचक के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह ग्रंथ से बाहर जाये, परन्तु अनेक प्रसंगों में उसे ग्रंथ से बाहर ग्रंथकार, उसके समय की परिस्थितियों और समसामयिक साहित्य तक जाये बिना नहीं रहा जाता। अधिकांश समालोचकों को कुछ मिली-जुली ढंग की समालोचना लिखना पड़ती है संक्षेप में उसकी रूपरेखा इस प्रकार बन सकती है :

१—कवि के समय की राजनैतिक, सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियाँ।

२—कवि का जीवन और उसकी मनोस्थितियाँ

३—कवि के काव्य का अध्ययन

(क) विषय (कथावस्तु), (ख) रसपरिपाक (ग), मूर्तिमत्ता, (घ) भाषाशैली

४—रचना में कवि का संदेश

५—कवि और उसकी रचना का स्थान (क) समसामयिकों में, (ख) पूर्ववर्ती कवियों की तुलना में।

परन्तु वास्तव में कोई भी समालोचना सभी अंगों को पूर्णतय: नहीं छू सकती। कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी अंग पर अधिक बल देना आवश्यक हो जाता है। फलत: संतुलित आलोचना उपस्थित करना बड़ा कठिन काम है।

संतुलित आलोचना उपस्थित करना इसलिए और भी कठिन है कि आलोचक को एक साथ कई काम करने पड़ते हैं :

१—रचना का विश्लेषण

२—रचना की व्याख्या

३—रचना के संबंध में मत-स्थापन। इस मत-स्थापन के कई रूप हो सकते हैं :

(क) नीति या जीवन के संबंध में रचयिता का मत क्या है और कहाँ तक उपादेय है।

(ख) कला के दृष्टिकोण से रचना में क्या श्रेष्ठताएँ अथवा त्रुटियाँ हैं।

जहाँ तक रचना का विश्लेषण और उसकी व्याख्या का प्रश्न है, ये कार्य बहुत कुछ वैज्ञानिक ढंग से किये जा सकते हैं; यद्यपि व्याख्या को व्यक्तिगत दृष्टिकोण भी थोड़ा-बहुत प्रभावित करेगा ही। परन्तु रचना के सम्बन्ध में मत-स्थापन करते समय आलोचक को अनिवार्य रूप से

व्यक्तिगत दृष्टिकोण और व्यक्तिगत रुचि का प्रयोग करना पड़ेगा। कुछ लोगों का कहना है कि आलोचक को कृति का विश्लेषण उपस्थित करना है और उसकी व्याख्या करनी है, उसे अपना मत प्रगट करना नहीं है। प्रत्येक आलोचक का अपना स्वतंत्र मत हो सकता है, परन्तु उसे प्रगट कर वह अज्ञात रूप से दूसरों को प्रभावित करेगा और इस तरह कृति की स्वतंत्र समीक्षा में बाधक होगा। परन्तु यह तो बेबसी की ही बात है। ज्ञात रूप से या अज्ञात रूप से विश्लेषक और व्याख्याता अपना मत, अपना दृष्टिकोण और अपनी रुचि भी प्रगट कर देता है। कोई भी रचना नीति-निरपेक्ष या कलाहीन नहीं होगी। इसलिए आलोचक के प्रति अन्याय होगा यदि हम आग्रह करें कि वह रचना की नीति (जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण) और कला-सम्बन्धी विवेचना को अपनी आलोचना में स्थान ही नहीं दे। अच्छा समालोचक अपनी रुचि को पाठकों पर नहीं लादेगा, परन्तु वह यह भी जानेगा कि वह रचनाकार के प्रति एकदम तटस्थ नहीं हो सकता। उसे उसको अपार सहानुभूति देनी होगी। तभी वह रचना के मर्म तक पहुँच सकेगा।

रचनाकार और उसकी रचना के प्रति श्रद्धा और सहानुभूति आलोचक की सबसे बड़ी निधि हैं। आलोचक का काम वैज्ञानिक की चीड़फाड़ से कुछ अधिक है। वह एकमात्र विश्लेषण ही नहीं करता। रचना का पूरा-पूरा चित्र भी वह उभारता जाता है। रचना के प्रति सहानुभूति का भाव हुए बिना इसमें सफल होना उसके लिए संभव नहीं है। परन्तु केवल श्रद्धा और सहानुभूति के बल पर कोई मनुष्य श्रेष्ठ समालोचक नहीं बन सकता। उसे विद्वान, बुद्धिमान, गुणग्राही और निष्पक्ष होना होगा। किसी भी विषय या शैली के प्रति रुचि या अरुचि

होना प्रत्येक मनुष्य के लिए स्वाभाविक है, परन्तु नीर-क्षीर-विवेकी आलोचक के लिए रुचि-अरुचि का प्रश्न ही नहीं उठता। उसे राग-द्वेष या पक्षपात से बचना है। न जाने कितनी सुन्दर आलोचनाएँ पक्षपात के दोष से कलुषित हो गई हैं। न जाने कितनी कटु वितंडनाओं ने होनहार कवियों और लेखकों को जर्जर बना दिया है। परन्तु इतना होने पर भी समालोचक बनना सब के लिए सुलभ नहीं है। इसके लिए भी थोड़ी-बहुत ईश्वरदत्त प्रतिभा चाहिये। प्रत्येक पंडित अच्छा समालोचक बन बैठे, यह कोई बात नहीं। वास्तव में आलोचना भी साहित्य का एक प्रमुख अंग है और उसमें अध्यवसाय के साथ ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा की भी आवश्यकता है।

परन्तु यहाँ एक प्रश्न यह उठता है—आखिर साहित्यकार, कवि या लेखक और पाठक के बीच में इस माध्यम, इस आलोचक की आवश्यकता ही क्या है? वह क्या करता है? वह लेखक को पाठक तक सीधा-सीधा पहुँचने क्यों नहीं देता? क्या वह भ्रामक नहीं बन सकता? जब से साहित्य का सृजन हुआ है, तब से अब तक यह प्रश्न बार-बार होता रहा है और बार-बार इसका एक ही उत्तर मिलता रहा है। जो पाठक सीधे लेखक से आनन्द ले सकते हैं, उनके लिए तो आलोचक है ही नहीं। परन्तु ऐसे लोग कितने हैं जिनकी सुरुचि पर विश्वास किया जा सके। फिर ऐसे और भी कम होंगे जो साहित्य की गति-विधि का ज्ञान रखते हों अथवा रचनाकार के जीवन और मनोविज्ञान से भलीभाँति परिचित हों। इनके लिए तो आलोचक की आवश्यकता है ही। वही उन्हें साहित्यकार के जीवन, रचना की ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमि और समसामयिक साहित्य की गति-विधि से परिचित करेगा। इस तरह रचना का आनन्द बढ़ेगा ही, घटेगा नहीं।

ही नई साहित्य-कोटियों का प्रयोग आज हो रहा है। नई आवश्यकताओं के अनुसार प्राचीन साहित्य-कोटियों में भी अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए हैं। शेक्सपिअर और इब्सन के नाटकों की तुलना करने पर ये परिवर्तन स्पष्ट हो जायेंगे। साहित्य जिस जीवन की संकल्पात्मक अभिव्यक्ति है, वही जीवन जब विज्ञान के नये-नये आविष्कारों के कारण द्रुतगति से बदल रहा है, तो फिर साहित्य कैसे धरती पकड़ कर बैठा रहेगा। इसी से नई-नई साहित्य-कोटियाँ हैं, नये-नये 'टेकनिक'।

इन नई-पुरानी साहित्य-कोटियों और नये-पुराने 'टेकनिकों' पर हमने विचार कर लिया है। कुछ ऐसी भी साहित्य-कोटियाँ हैं जिनका इन पृष्ठों में उल्लेख मात्र हो सका है। नई-नई आवश्यकताओं के कारण लिखने के नए-नए ढंग चल पड़े हैं। सब की व्याख्या करना असंभव था। परन्तु एक बात निश्चित है। साहित्य से हम आज वही नहीं माँगते जो दस-बीस वर्ष पहले माँगते थे। मनोरंजन, शिक्षा, ज्ञानवर्द्धन कल्पना-विलास—इस प्रकार का कोई भी लक्ष्य प्राचीन काल में ठीक था। आज हमारी माँग दूसरी है। हमारी चारों ओर की इस समय की दुनिया से साहित्य हमारा क्या संबंध जोड़ता है, सांसारिक जीवन के संघर्षों में वह हथौड़े की तरह चलाया जा सकता है या नहीं, वह प्रगतिशील जनशक्तियों का साथ देता है या ह्रासोमुन्खी बुर्जुआ सभ्यता और पूँजीवाद का। इस प्रकार आज साहित्य ने राजपथ छोड़ दिया है। वह जनता के बीच प्रतिष्ठित हो गया है। इसी के अनुसार उसका रूप-रङ्ग बदल गया है। आज साहित्य के 'हीरो' (नायक) राजा और सामंत नहीं हैं। पांडेपुर का सूरदास और किसान होरी उसके नायक हैं। सच तो यह है कि आज साहित्य का साधारणीकरण हो गया है और नये साहित्य

की जो रूपरेखायें बन रही हैं उनमें अमर तत्त्वों, सामयिक आवश्यकताओं, कला और चुहल को एक डोरी से बाँध दिया गया है।

साहित्य के विद्यार्थियों का काम ऊपर के विवेचन से चल जायगा, परन्तु साहित्य स्वयं जीवन से कम बड़ा, जीवन से कम आकर्षक, जीवन से कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसीलिए यह आवश्यक है कि साहित्य-कार की रचनाओं तक सीधे पहुँचा जाय और साहित्य-शास्त्रियों की व्यवस्थाओं को अलग रखकर उसका आनंद लिया जाय। यह अवश्य है कि साहित्यशास्त्र की मान्यताओं को जानने से हम साहित्यरस को सज्ञान व्यक्ति की भाँति ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु साहित्यशास्त्र की अनेकानेक व्यवस्थाओं में उलझ कर हमारी रस ग्रहण करने की शक्ति कुंठित हो जाती है। इसीलिए साहित्यशास्त्र और साहित्य-संबंधी सहज अनुभूति के बीच में पटरी बिठाना आवश्यक हो जाता है।

साहित्य के कुछ अंगों का विवेचन फिर भी रह गया। उपयोगी साहित्य, पत्र-पत्रिकाएँ और गंभीर साहित्य भी साहित्य के ही अंग हैं और इनकी अपनी-अपनी कला है, अपनी-अपनी समस्याएँ हैं। उपयोगी साहित्य के भीतर दर्शन, तर्क, धर्म, आयुर्वेद, भौतिक विज्ञान, रसायन, बनस्पति-शास्त्र, यंत्रविद्या, अर्थशास्त्र, राजनीति, समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान, शरीर-शास्त्र, इतिहास, भूगोल, भाषा-शास्त्र और प्राचीन लिपिमाला, जीवन-चरित्र, यात्रा, क़ानून, शासन-प्रणाली इत्यादि विषय भी आना चाहिये क्योंकि मनुष्य की ज्ञानचेष्टाओं का प्रकाशन इन्हीं के द्वारा होता है। वास्तव में 'निबंध' शब्द के व्यापक प्रयोग के अंदर इस तरह का सारा उपयोगी साहित्य आ जाता है और निबंध की कला और उसके अनेक भेदों पर विवेचना करते हुए उपयोगी साहित्य

की कला की भी विवेचना हो जाती है। पत्र-पत्रिकाओं का साहित्य एक नितांत नए प्रकार का साहित्य है। वह अधिकतः सामयिक आवश्यकताओं की ही पूर्ति करता है। एकांकी, कहानी, रिपोर्टाज, स्केच और रेखाचित्र ललित साहित्य और इस सामयिक साहित्य (पत्र-पत्रिका) साहित्य के बीच की कड़ी है। उपयोगी-साहित्य और निबंध-साहित्य गंभीर-साहित्य के अंतर्गत आते हैं और शेष साहित्य-कोटियाँ ललित-साहित्य या सुकुमार-साहित्य के अंतर्गत। फिर भी इस प्रकार का विभाजन बहुत कुछ कृत्रिम ही है। उपयोगितावादी कलात्मक साहित्य भी है और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले साहित्य और ज्ञान-विज्ञान के साहित्य में भी शुद्ध साहित्य के अनेक अंग होते हैं। सच तो यह है कि मनुष्य की जीवंत चेष्टाओं की भाँति साहित्य भी जीवित-स्पंदित है और अनेक प्रकार से उसका विश्लेषण और उसकी व्याख्या करने पर भी बहुत कुछ बाहर रह जाता है। अपनी सहज रसग्राही अनुभूति के द्वारा साहित्य-रसिक इस 'बहुत कुछ' को स्वं-संवेद्य बना लेता है।

—:०:—